।। श्रीहरिः ।।

सूक्तिसुधाकर

श्रीहरिः

प्राक्कथन

संसारकटुवृक्षस्य द्वे फले ह्यमृतोपमे।
सुभाषितरसास्वादः सङ्गतिः सुजने जने॥

(श्रीचाणक्यस्य)

संसाररूप कटुवृक्षके दो ही फल अमृतके समान मधुर हैं, एक तो सुन्दर उक्तियोंका रसास्वादन और दूसरा सज्जनोंका सङ्ग।

—भ्रमर

श्रीहरिः

विषय-सूची

सप्तमोल्लास

अष्टमोल्लास

नवमोल्लास

दशमोल्लास

एकादशोल्लास

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सूक्तिसुधाकर

प्रथमोल्लास

ब्रह्मसूक्तिः

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥ १ ॥*
नमस्ते सते ते जगत्कारणाय नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय॥ २ ॥†
त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं त्वमेकं जगत्पालकं स्वप्रकाशम्।
त्वमेकं जगत्कर्तृ पातृ प्रहर्तृ त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम्॥ ३ ॥†
भयानां भयं भीषणं भीषणानां गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्।
महोच्चैः पदानां नियन्तृ त्वमेकं परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम्॥ ४ ॥†

सत्य जिनका व्रत है, जो सत्यपरायण, तीनों कालमें सत्य, सत्य (भाव) स्वरूप, संसारके उद्भवस्थान और अन्तर्यामीरूपसे सत्य (संसार) में निहित हैं तथा सत्य और ऋत जिनके नेत्र हैं, उन सत्यके सत्य आप सत्यस्वरूपकी हम शरण हैं॥ १ ॥ हे प्रभो! जगत्के कारणरूप और सत्स्वरूप आपको नमस्कार है, सर्वलोकोंके आश्रयभूत ज्ञानस्वरूप आपको नमस्कार है, मोक्षप्रद अद्वैततत्त्वरूप आपको नमस्कार है, शाश्वत और सर्वव्यापी ब्रह्मको नमस्कार है॥ २ ॥ आप ही एक शरण लेने योग्य हैं, आप ही एक वरण करने योग्य हैं, आप ही एक जगत्को पालन करनेवाले तथा स्वप्रकाशस्वरूप हैं, इस जगत्के कर्ता, रक्षक और संहारक भी आप ही हैं तथा सबके परे निश्चल और निर्विकल्प ब्रह्म भी आप ही हैं॥ ३ ॥ आप भयको भी भय देनेवाले हैं, भीषणोंके लिये भी भीषणरूप हैं, प्राणियोंकी परम गतिस्वरूप और पवित्रको भी पवित्र करनेवाले आप ही हैं, आप सर्वोत्तम पदके नियन्ता, परके भी परे और रक्षकोंके भी रक्षक हैं॥ ४ ॥

* श्रीमद्भागवत १०। २। २६।   † तन्त्रोक्तस्तवपञ्चकात्।

वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो वयं त्वां जगत्साक्षिरूपं नमामः।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं भवाम्भोधिपोतं शरण्यं व्रजामः॥५॥*

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥६॥†

ब्रह्मा दक्षः कुबेरो यमवरुणमरुद्वह्निचन्द्रेन्द्ररुद्राः
शैला नद्यः समुद्रा ग्रहगणमनुजा दैत्यगन्धर्वनागाः।
द्वीपा नक्षत्रतारा रविवसुमुनयो व्योम भूरश्विनौ च
संलीना यस्य सर्वे वपुषि स भगवान् पातु नो विश्वरूपः॥७॥

अम्भोधिः स्थलतां स्थलं जलधितां धूलीलवः शैलतां
मेरुर्मृत्कणतां तृणं कुलिशतां वज्रं तृणप्रायताम्।
वह्निः शीतलतां हिमं दहनतामायाति यस्येच्छया
लीलादुर्ललिताद्भुतव्यसनिने देवाय तस्मै नमः॥८॥

हम एक आपका ही स्मरण करते हैं, आपका ही भजन करते हैं, जगत्के साक्षीरूप एक आपको ही नमस्कार करते हैं, आप ही एकमात्र सत्यस्वरूप हैं, निधान हैं, अवलम्बनरहित हैं, इसलिये संसार-सागरके नौकारूप आप ईश्वरकी हम शरण लेते हैं॥ ५॥ अन्वयव्यतिरेकसे जो जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलयके कारण सिद्ध हैं, सर्वज्ञ हैं, स्वप्रकाश हैं, जिन्होंने आदिपुरुष ब्रह्माको वेदोपदेश दिया, जिनको जाननेमें विद्वान् भी मोहित हो रहे हैं, जिनके सकाशसे पृथ्वी, जल और तेजोमय संसार सत्य-सा दीख पड़ता है, ऐसे अपने तेजसे अज्ञानको नाश करनेवाले परमार्थ सत्य परमेश्वरका हम ध्यान करते हैं॥ ६॥ जिनके शरीरमें—ब्रह्मा, दक्ष, कुबेर, यम, वरुण, वायु, अग्नि, चन्द्र, इन्द्र, शिव, पर्वत, नदी, समुद्र, ग्रह, मनुष्य, दैत्य, गन्धर्व, नाग, द्वीप, नक्षत्र, तारा, सूर्य, वसु, मुनि, आकाश, पृथ्वी और अश्विनीकुमार आदि सभी लीन हैं, वे विश्वरूप भगवान् हमारा कल्याण करें॥ ७॥ जिसकी इच्छामात्रसे समुद्र स्थलरूप और स्थल समुद्ररूप हो सकता है, धूलिकण पर्वतसदृश और मेरुपर्वत धूलिके सदृश हो सकता है, तृण वज्ररूप और वज्र तृणरूपमें परिणत हो सकता है तथा अग्नि शीतल और बरफ अग्निवत् दाहक हो सकता है; उस विचित्र लीला-रसिक देवको नमस्कार है॥ ८॥

*तन्त्रोक्तस्तवपञ्चकात्। † श्रीमद्भा० १।१।१।

द्वितीयोल्लास

श्रीशिवसूक्तिः

जय जय हे शिव दर्पकदाहक दैत्यविघातक भूतपते
दशमुखनायक शायकदायक कालभयानक भक्तगते।
त्रिभुवनकारकधारकमारक संसृतिकारक धीरमते
हरिगुणगायक ताण्डवनायक मोक्षविधायक योगरते॥ १ ॥*

शिशिरकिरणधारी शैलबालाविहारी
भवजलनिधितारी योगिहृत्पद्मचारी।
शमनजभयहारी प्रेतभूमिप्रचारी
कृपयतु मयि देवः कोऽपि संहारकारी॥ २ ॥*

यः शङ्करोऽपि प्रणयं करोति स्थाणुस्तथा यः परपूरुषोऽपि।
उमागृहीतोऽप्यनुमागृहीतः पायादपायात्स हिनः स्वयम्भूः॥ ३ ॥†

मूर्द्धप्रोद्धासिगङ्गेक्षणगिरितनयादुःखनिःश्वासपात-
स्फायन्मालिन्यरेखाछविरिव गरलं राजते यस्य कण्ठे।

हे मदनदाहक! दैत्यकदन! भूतनाथ! हे दशशीश-स्वामिन्! हे [अर्जुनको] धनुष देनेवाले! हे कालको भी भयभीत करनेवाले! हे भक्तोंके आश्रय! हे त्रिलोकीकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले! हे जगद्रचयिता धीरधी महादेव! हे हरिगुणगायक ताण्डवनायक मोक्षप्रदायक योगपरायण शंकर! आपकी जय हो! जय हो॥ १ ॥ जो चन्द्रकलाको धारण किये हैं, पार्वती-रमण हैं, संसारसमुद्रसे पार करनेवाले हैं, योगियोंके हृदयरूप कमलमें विहार करनेवाले हैं, मृत्यु-भयको दूर करनेवाले तथा श्मशानभूमिमें विचरनेवाले हैं, वे कोई सृष्टिसंहारकारी देव मुझपर कृपा करें॥ २ ॥ जो मुक्तिदाता होकर भी प्रेम करता है, जो परमपुरुष होनेपर भी स्थाणु (निष्क्रिय) है, जो उमासे गृहीत होकर भी अनुमा (अनुमान या उमाभिन्न) से गृहीत होता है, वही स्वयम्भू शंकर हमारी मृत्युसे रक्षा करें॥ ३ ॥ मस्तकपर सुशोभित हुई गङ्गाजीको देखकर पार्वतीजीका शोकोच्छ्वास पड़नेके कारण बढ़े हुए मालिन्यकी श्यामल रेखाके समान मानो जिनके कण्ठमें गरल-चिह्न शोभित हो रहा है,

---

* श्रीपूर्णचन्द्रस्योद्भटसागरतः। † श्रीजयनारायणतर्कपञ्चाननस्य कणादसूत्रविवृतेः।

सोऽयं कारुण्यसिन्धुः सुरवरमुनिभिः स्तूयमानो वरेण्यो
नित्यं पायादपायात्सततशिवकरः शङ्करः किङ्करं माम्॥ ४॥*
किं सुप्तोऽसि किमाकुलोऽसि जगतः सृष्टस्य रक्षाविधौ
किं वा निष्करुणोऽसि नूनमथवा क्षीबः स्वतन्त्रोऽसि किम्।
किं वा मादृशनिःशरण्यकृपणाभाग्यैर्जडोऽवागसि
स्वामिन्यन्न शृणोषि मे विलपितं यन्नोत्तरं यच्छसि॥ ५॥†
कुन्दइन्दुदरगौरसुन्दरं अम्बिकापतिमभीष्टसिद्धिदम्।
कारुणीककलकञ्जलोचनं नौमि शङ्करमनङ्गमोचनम्॥ ६॥‡
मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददं
वैराग्याम्बुजभास्करं ह्यघघनध्वान्तापहं तापहम्।
मोहाम्भोधरपूगपाटनविधौ श्वासं भवं शङ्करं
वन्दे ब्रह्मकुलं कलङ्कशमनं श्रीरामभूपप्रियम्॥ ७॥‡
कदा द्वैतं पश्यन्नखिलमपि सत्यं शिवमयं
महावाक्यार्थानामवगतसमभ्यासवशतः ।

बड़े-बड़े देवता और मुनि जिनकी स्तुति करते हैं, जो पूजनीय तथा सदैव कल्याण करनेवाले हैं वे दयासागर शंकर मुझ दासको नाशसे बचावें॥ ४॥ आपको क्या हो गया? क्या आप सो गये? क्या आप अपने बनाये हुए जगत्‌की रक्षाके काममें व्यस्त हैं? क्या बिलकुल ही निष्करुण बन बैठे—दयाको बिलकुल ही तिलाञ्जलि दे दी? क्या (न्याय-अन्यायकी) कुछ भी परवा न करके उन्मत्त अथवा स्वतन्त्र बन गये? या मेरे सदृश निःशरण जनके अभाग्यसे आपकी वाणी स्तम्भित हो गयी?—आप जड़वत् हो गये? हे स्वामिन्! मेरा विलाप फिर आप क्यों नहीं सुनते और क्यों मेरी बातोंका उत्तर नहीं देते?॥ ५॥ कुन्द-फूल, चन्द्र और शङ्खके समान गौरवर्ण एवं सुन्दर, पार्वतीके पति, मनोवाञ्छित सिद्धि देनेवाले, करुणासे भरे सुन्दर कमल-से नेत्रोंवाले और कामदेवके नाशक शङ्करको नमस्कार करता हूँ॥ ६॥ धर्म-वृक्षके मूल, विवेक-सिन्धुको आनन्द देनेवाले पूर्णचन्द्र, वैराग्य-कमलको प्रफुल्लित करनेवाले और पापतापके घनान्धकारको मिटानेवाले सूर्य, अज्ञानके बादलोंको उड़ा देनेवाले पवनरूप, कल्याण करनेवाले, संसारके कारण, ब्रह्माके पुत्र, कलङ्कके मिटानेवाले और श्रीरामके प्यारे शिवजीकी वन्दना करता हूँ॥ ७॥ महावाक्योंके तात्पर्यार्थके अभ्यासद्वारा सारे संसारको सत्य और शिवरूप समझता हुआ,

* श्रीताराकुमारस्य शिवशतकात्। † श्रीजगद्धरभट्टस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ।
‡ श्रीतुलसीदासस्य रामचरितमानसात्।

गतद्वैताभावः शिव शिव शिवेत्येव विलपन्
मुनिर्न व्यामोहं भजति गुरुदीक्षाक्षततमाः॥ ८ ॥
त्राता यत्र न कश्चिदस्ति विषमे तत्र प्रहर्तुं पथि
द्रोग्धारो यदि जाग्रति प्रतिविधिः कस्तत्र शक्यक्रियः।
यत्र त्वं करुणार्णवस्त्रिभुवनत्राणप्रवीणः प्रभु-
स्तत्रापि प्रहरन्ति चेत् परिभवः कस्यैष गर्हावहः॥ ९ ॥*
अज्ञानान्धमबान्धवं कवलितं रक्षोभिरक्षाभिधैः
क्षिप्तं मोहमदान्धकूपकुहरे दुर्हृद्भिराभ्यन्तरैः।
क्रन्दन्तं शरणागतं गतधृतिं सर्वापदामास्पदं
मा मा मुञ्च महेश पेशलदृशा सत्रासमाश्वासय॥ १० ॥*
कदा वाराणस्याममरतटिनीरोधसि वसन्
वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम्।
अये गौरीनाथ त्रिपुरहर शम्भो त्रिनयन
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्॥ ११ ॥†

अद्वैततत्त्वज्ञाता होकर शिव-शिव-शिव इस प्रकार रटता हुआ मुनि, किस समय गुरुदीक्षासे अज्ञानरहित होकर, व्यामोहमें न फँसेगा?॥ ८॥ जिस भयंकर मार्गमें कोई रक्षक नहीं, उसमें यदि शत्रु सतानेको तैयार हों तो वहाँ उनका क्या प्रतिकार किया जा सकता है? पर जहाँपर आप-जैसे दयासिन्धु त्रैलोक्यकी रक्षा करनेमें कुशल स्वामी विराजमान हैं, वहाँपर यदि वे (काम-क्रोधादि शत्रु) प्रहार करें तो यह किसकी निन्दा और अपमान है?॥ ९॥ मैं अज्ञानसे अन्धा हो रहा हूँ, बन्धुविहीन हूँ, इन्द्रियरूप राक्षसोंसे भक्षित हो रहा हूँ, अपने आन्तरिक शत्रुओंद्वारा मोह और मदरूप अन्धकूपमें डाल दिया गया हूँ; ऐसे आपत्तिग्रस्त, अधीर, शरणागत और रोते हुए मुझको, हे महेश्वर! मत भुलाओ, शीघ्र ही अपनी सुकोमल कृपादृष्टिसे मुझ भयभीतको ढाढस बँधाओ॥ १०॥ काशीपुरीमें देवनदी श्रीगङ्गाजीके तटपर निवास करता हुआ, कौपीनमात्र धारण किये, अपने मस्तकपर अञ्जलि बाँध करके, 'हे गौरीनाथ! त्रिपुरारि त्रिनयन शम्भो!! प्रसन्न होइये'—ऐसा कहते हुए, मैं अपने दिनोंको क्षणके समान कब बिताऊँगा?॥ ११॥

* श्रीजगद्धरभट्टस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ।

† भर्तृहरेर्वैराग्यशतकात् श्लो० ८७।

कदा वाराणस्यां विमलतटिनीतीरपुलिने
चरन्तं भूतेशं गणपतिभवान्यादिसहितम्।
अये शम्भो स्वामिन् मधुरडमरूवादन विभो
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्॥ १२॥*
कल्पान्तक्रूरकेलिः क्रतुकदनकरः कुन्दकर्पूरकान्तिः
क्रीडन्कैलासकूटे कलितकुमुदिनीकामुकः कान्तकायः।
कङ्कालक्रीडनोत्कः कलितकलकलः कालकालीकलत्रः
कालिन्दीकालकण्ठः कलयतु कुशलं कोऽपि कापालिकः कौ॥ १३॥
स्फुरत्स्फारज्योत्स्नाधवलिततले क्वापि पुलिने
सुखासीनाः शान्तध्वनिषु रजनीषु द्युसरितः।
भवाभोगोद्विग्नाः शिव शिव शिवेत्यार्तवचसा
कदा स्यामानन्दोद्गतबहुलबाष्पाप्लुतदृशः॥ १४॥†
यस्ते ददाति रवमस्य वरं ददासि
यो वा मदं वहति तस्य दमं विधत्से।

काशीजीमें श्रीगङ्गाजीके परम पवित्र तीरपर, गौरी और गणेश आदिसहित घूमते हुए भगवान् भूतनाथको 'हे शम्भो! हे स्वामिन! हे मधुर-मधुर डमरू बजानेवाले सर्वव्यापक प्रभो! प्रसन्न होइये'—ऐसा कहते हुए अपने दिनोंको क्षणके समान कब बिताऊँगा?॥ १२॥ कल्पान्त ही जिनकी दुर्ललित लीला है, जो दक्षयज्ञको विध्वंस करनेवाले हैं, जिनके शरीरकी कुन्द या कर्पूरकी-सी कान्ति है, जो कैलासपर्वतके शिखरपर क्रीड़ा कर रहे हैं, चन्द्रकलाको धारण करनेवाले, कान्तिमय शरीरधारी हैं, कङ्कालोंसे क्रीड़ा करनेमें उत्सुक हैं, कलकलध्वनि करनेवाले, कालरूप और कालीकान्त हैं तथा कालिन्दी (यमुनाजी) के समान जिनका श्यामल कण्ठ है, वे कोई कपालमालाधारी कापालिक इस पृथिवीतलपर हमारी कुशल करें॥ १३॥ निःशब्द रात्रिके समय चारु चन्द्रिकासे धोये हुए श्रीजाह्नवीके धवल तटपर सुखपूर्वक बैठे हुए, सांसारिक सुखोंसे सन्तप्त होकर दीनवाणीसे 'शिव! शिव!! शिव!!!'—ऐसा कहते हुए आनन्दोद्गत प्रचुर प्रेमाश्रुओंसे मेरे नेत्र कब भरेंगे?॥ १४॥ (हे शङ्कर!) जो तुम्हें रव देता (स्तुति करता) है, उसे तुम (रवका उलटा) वर देते हो; जो (मूर्ख आपके सम्मुख) मद प्रकट करता है, उसकी खबर आप दम (दण्ड, मदका उलटा दम) से लेते हैं;

* भिक्षुकस्य।

† भर्तृहरेर्वैराग्यशतकात् श्लोक ८५।

इत्यक्षरद्वयविपर्ययकेलिशील

किं नाम कुर्वति नमो न मनः करोषि॥ १५॥*

तृतीयोल्लास

श्रीविष्णुसूक्तिः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम्।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत् सर्वविघ्नोपशान्तये॥ १॥
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥ २॥†
अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥ ३॥†
यन्मूर्ध्नि मे श्रुतिशिरस्सु च भाति यस्मि-
न्नस्मन्मनोरथपथः सकलः समेति।

इस प्रकार अक्षरद्वयको उलट-फेर करनेका खेल आपको बहुत ही पसंद है! तो फिर मेरे नमः कहनेपर (मेरी तरफ नमःका उलटा) अपना मन क्यों नहीं फेरते?॥ १५॥

स्वच्छ वस्त्रधारी, चन्द्रमाके समान शुक्लवर्ण, चतुर्भुज, प्रसन्नवदन विष्णुका सर्वविघ्नोंकी शान्तिके लिये ध्यान करे॥ १॥ हे समदर्शिन्! आपको छोड़कर मुझे न तो स्वर्गकी, न ब्रह्मलोककी, न सार्वभौम साम्राज्यकी, न पृथ्वीपतित्वकी, न योगसिद्धियोंकी और न जन्म-मरणसे छूटनेकी ही इच्छा है॥ २॥ बिना पङ्खोंवाले पक्षिशावक जिस प्रकार अपनी माताके लिये उत्सुक रहते हैं, भूखे बछड़े जैसे दूधके लिये व्याकुल रहते हैं तथा विरहिणी स्त्री जैसे व्यथित होकर अपने प्रवासी पतिकी बाट देखती है; हे कमलनयन! मेरा मन भी उसी प्रकार आपके दर्शनोंके लिये लालायित हो रहा है॥ ३॥ कमलनयन भगवान् विष्णुके जो चरणारविन्द मेरे मस्तकपर तथा वेदोंके शिरपर सुशोभित होते हैं और जिनमें मेरे मनोरथोंके सभी मार्ग मिलते हैं

---

* श्रीजगद्धरभट्टस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ। † श्रीमद्भा० ६। ११। २५-२६।

स्तोष्यामि नः कुलधनं कुलदैवतं तत्
पादारविन्दमरविन्दविलोचनस्य ॥ ४ ॥*
तत्त्वेन यस्य महिमार्णवशीकराणुः
शक्यो न मातुमपि सर्वपितामहाद्यैः।
कर्तुं तदीयमहिमस्तुतिमुद्यताय
मह्यं नमोऽस्तु कवये निरपत्रपाय ॥ ५ ॥*
यद्वा श्रमावधि यथामति वाप्यशक्तः
स्तौम्येवमेव खलु तेऽपि सदा स्तुवन्तः।
वेदाश्चतुर्मुखमुखाश्च महार्णवान्तः
को मज्जतोरणुकुलाचलयोर्विशेषः ॥ ६ ॥*
किञ्चैष शक्त्यतिशयेन न तेऽनुकम्प्यः
स्तोतापि तु स्तुतिकृतेन परिश्रमेण।
तत्र श्रमस्तु सुलभो मम मन्दबुद्धे-
रित्युद्यमोऽयमुचितो मम चाब्जनेत्र ॥ ७ ॥*

तथा जो मेरे कुलधन और कुलदेवता हैं, उनकी मैं वन्दना करता हूँ॥ ४॥ जिनकी महिमारूप समुद्रके छोटे-से-छोटे जलकणका भी मान बतलानेको शिव और ब्रह्मा आदि देवता भी समर्थ नहीं हैं; उन्हींकी महिमाका स्तवन करनेके लिये उद्यत हुए मुझ निर्लज्ज कविको नमस्कार है! (भला, मैं उनकी महिमा क्या जानूँ)?॥ ५ ॥ अथवा असमर्थ होनेपर भी अपने परिश्रम और बुद्धिके अनुसार मैं स्तुति करूँगा ही, क्योंकि सदा स्तुति करनेवाले वेद और ब्रह्मा आदि देवता भी श्रम और बुद्धिके अनुसार ही स्तुति करते हैं, (पूरी-पूरी स्तुति उनसे भी नहीं हो पाती, फिर मुझसे उनमें कोई विशेषता नहीं) भला, महासागरके बीच डूबते हुए परमाणु और कुल-पर्वतोंमें क्या अन्तर है?॥ ६ ॥ हे कमलनयन भगवन्! कोई भी स्तुति करनेवाला अपनी शक्तिकी अधिकतासे तुम्हारी दयाका पात्र नहीं होता, बल्कि स्तुति करते-करते जब थक जाता है तो उसकी थकावटके कारण आप उसपर दया करते हैं! ऐसी दशामें ब्रह्मा आदि तो अधिक शक्तिमान् होनेके कारण जल्दी नहीं थक सकते, पर मैं तो मन्दबुद्धि हूँ, मेरा शीघ्र ही थक जाना अधिक सम्भव है, अतः ब्रह्मादिसे पहले मैं ही आपका कृपापात्र बनूँगा!—इसलिये स्तुति करनेका यह मेरा उद्योग उचित ही है॥ ७॥

* श्रीआलवन्दारस्तोत्रात्, श्लो० ९, १०, ११, १२।

नावेक्षसे यदि ततो भुवनान्यमूनि
नालं प्रभो भवितुमेव कुतः प्रवृत्तिः।
एवं निसर्गसुहृदि त्वयि सर्वजन्तोः
स्वामिन्न चित्रमिदमाश्रितवत्सलत्वम्॥ ८॥*

स्वाभाविकानवधिकातिशयेशितृत्वं
नारायण त्वयि न मृष्यति वैदिकः कः।
ब्रह्मा शिवः शतमखः परमः स्वराडि-
त्येतेऽपि यस्य महिमार्णवविप्रुषस्ते॥ ९॥*

कः श्री श्रियः परमसत्त्वसमाश्रयः कः
कः पुण्डरीकनयनः पुरुषोत्तमः कः।
कस्यायुतायुतशतैककलांशकांशे
विश्वं विचित्रचिदचित्प्रविभागवृत्तम्॥ १०॥*

वेदापहारगुरुपातकदैत्यपीडा-
द्यापद्विमोचनमहिष्ठफलप्रदानैः।

हे भगवन्! यदि आप इन लोकोंकी ओर दृष्टि न डालें तो इनकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती, फिर प्रवृत्ति तो हो ही कैसे सकती है? इस प्रकार समस्त प्राणियोंके स्वाभाविक सुहृद् आपमें अपने आश्रितजनोंके ऊपर वत्सल (सदय) होनेका गुण रहना आश्चर्यकी बात नहीं है॥ ८॥ हे नारायण! कौन ऐसा वेदवेत्ता पुरुष है, जो आपके स्वाभाविक निरवधि और निरतिशय ऐश्वर्यको सहन न कर सकता हो? क्योंकि ब्रह्मा, शिव, इन्द्र और बड़े-बड़े आत्माराम मुनि भी आपकी महिमारूप महासागरकी छोटी बूँदोंके समान हैं॥ ९॥ आपके अतिरिक्त-लक्ष्मीजीकी शोभा कौन है? शुद्ध सत्त्वका आधार कौन है? कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाला कौन है? पुरुषोत्तम नाम किसका है? तथा किसकी अनन्त करोड़ कलाओंके एकांशके भी अंशमें, यह जड़-चेतनरूप विचित्र संसार विभागपूर्वक स्थित है॥ १०॥ भगवन्! आपको छोड़कर दूसरा कौन है, जो वेदोंके अपहरणसे, ब्रह्महत्यासे और दैत्योंद्वारा दिये गये कष्टोंसे प्राप्त हुई आपदाओंको दूर करके तथा महान् वरदान देकर

---

* श्रीआलवन्दारस्तोत्रात्, श्लो० १३, १४, १५।

कोऽन्यः प्रजापशुपती परिपाति कस्य
पादोदकेन स शिवः स्वशिरोधृतेन ॥ ११ ॥*
कस्योदरे हरविरिञ्चिमुखप्रपञ्चः
को रक्षतीममजनिष्ट च कस्य नाभेः।
क्रान्त्वा निगीर्य पुनरुद्गिरति त्वदन्यः
कः केन चैष परवानिति शक्यशङ्कः ॥ १२ ॥*
त्वां शीलरूपचरितैः परमप्रकृष्ट-
सत्त्वेन सात्त्विकतया प्रबलैश्च शास्त्रैः।
प्रख्यातदैवपरमार्थविदां मतैश्च
नैवासुरप्रकृतयः प्रभवन्ति बोद्धुम् ॥ १३ ॥*
उल्लङ्घितत्रिविधसीमसमातिशायि-
सम्भावनं तव परिव्रढिमस्वभावम्।
मायाबलेन भवतापि निगुह्यमानं
पश्यन्ति केचिदनिशं त्वदनन्यभावाः ॥ १४ ॥*

ब्रह्मा और महादेवजीका भी पालन करता हो; तथा वे प्रसिद्ध महादेवजी आपके अतिरिक्त अन्य किसका चरणोदक (गङ्गाजल) सिरपर धारण करके, शिव (कल्याणमय) कहलाते हैं? ॥ ११ ॥ भला, आपके सिवा और किसके उदरमें शिव, ब्रह्मा आदि यह सारा प्रपञ्च स्थित है, कौन इसकी रक्षा करता और किसकी नाभिसे यह उत्पन्न होता है? आपको छोड़कर कौन इसे अपने पैरोंसे मापकर [प्रलयकालमें] निगल जाता और पुनः [सृष्टिकालमें] बाहर प्रकट कर देता है; यह प्रपञ्च किसी दूसरेके अधीन है—ऐसी शङ्का भी कौन कर सकता है? ॥ १२ ॥ आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य आपके लोकोत्तर शील, रूप, चरित्र, परम उत्तम सत्त्वगुण और सात्त्विक स्वभावद्वारा, आपको प्रबल शास्त्रों तथा देवसम्बन्धी परमार्थ (रहस्य) को जाननेवाले विख्यात पाराशरादि महर्षियोंके सिद्धान्तोंसे भी, यथावत् नहीं जान सकते ॥ १३ ॥ परन्तु आपमें अनन्य भावना रखनेवाले कुछ भक्तजन आपके ऐश्वर्यको—जो देश, काल और वस्तुकी सीमासे रहित तथा अपने समान या अपनेसे अधिककी सम्भावनासे पृथक् है—निरन्तर देखते हैं, यद्यपि उसे आप अपनी मायाके बलसे छिपाये रखते हैं ॥ १४ ॥

* श्रीआलवन्दारस्तोत्रात्, श्लो० १६, १७, १८, १९।

यदण्डमण्डान्तरगोचरञ्च यद्दशोत्तराण्यावरणानि यानि च।
गुणाः प्रधानं पुरुषः परम्पदं परात्परं ब्रह्म च ते विभूतयः॥ १५॥*
वशी वदान्यो गुणवानृजुः शुचिर्मृदुर्दयालुर्मधुरः स्थिरः समः।
कृती कृतज्ञस्त्वमसि स्वभावतः समस्तकल्याणगुणामृतोदधिः॥ १६॥*
उपर्य्युपर्यब्जभुवोऽपि पूरुषान् प्रकल्प्य ते ये शतमित्यनुक्रमात्।
गिरस्त्वदेकैकगुणावधीप्सया सदा स्थिता नोद्यमतोऽतिशेरते॥ १७॥*
त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः।
भवन्ति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीयगम्भीरमनोऽनुसारिणः॥ १८॥*
नमो नमो वाङ्मनसातिभूमये नमो नमो वाङ्मनसैकभूमये।
नमो नमोऽनन्तमहाविभूतये नमो नमोऽनन्तदयैकसिन्धवे॥ १९॥*
न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्यं त्वत्पपादमूलं शरणं प्रपद्ये॥ २०॥*

हे प्रभो! अण्ड, ब्रह्माण्डस्थित सर्ववस्तु, दस ऊपरके आवरण, तीन गुण, प्रकृति, पुरुष, परमपद और परात्पर ब्रह्म—ये सब आपकी ही विभूतियाँ हैं॥ १५॥ हे प्रभो! आप सबको वशमें रखनेवाले, उदार, गुणवान्, सरल, पवित्र, मृदुल स्वभाववाले, दयालु, मधुर, अविचल, समदर्शी, कृतकृत्य और कृतज्ञ हैं; इस प्रकार आप स्वभावहीसे समस्त कल्याणमय गुणरूप अमृतके सागर हैं॥ १६॥ हे प्रभो! वेदवाणी आपके गुणोंमेंसे एक-एकका भी अन्त लगानेकी इच्छासे प्रजापति ब्रह्माके भी ऊपर-ऊपर पुरुषोंकी कल्पना करके **'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मणः'** इत्यादिरूपसे सदा परिगणना करती रहती है, वह कभी उद्योगसे मुँह नहीं मोड़ती है [फिर भी पता नहीं पाती]॥ १७॥ [हे शरण्य!] आपके आश्रितजनोंको जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय तथा संसारसे मुक्ति—ये सब लीलामात्र होते हैं और वैदिक विधियाँ भी आपके भक्तोंके गम्भीर मनको अनुसरण करनेवाली होती हैं॥ १८॥ मन और वाणीके अगोचर आपको प्रणाम है, [ऐसा होते हुए भी भक्तजनोंके] मन-वाणीके एकमात्र विश्रामस्थान आपको नमस्कार है; अत्यन्त महाविभूतियोंसे सम्पन्न और अनन्त दयाके एकमात्र सागर आपको प्रणाम है, बारम्बार प्रणाम है॥ १९॥ मैं न धर्मनिष्ठ हूँ, न आत्मज्ञानी हूँ और न आपके चरणोंमें भक्तिमान् ही हूँ; मैं तो अकिञ्चन हूँ, अनन्यगति हूँ और शरणागतिरक्षक आपके चरणकमलोंकी शरण आया हूँ॥ २०॥

---

* श्रीआलवन्दारस्तोत्रात्, श्लो० २० २१, २२, २३, २४, २५।

न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके सहस्रशो यन्न मया व्यधायि।
सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे॥ २१॥*
निमज्जतोऽनन्तभवार्णवान्तश्चिराय मे कूलमिवासि लब्धः।
त्वयापि लब्धं भगवन्निदानीमनुत्तमं पात्रमिदं दयायाः॥ २२॥*
अभूतपूर्वं मम भावि किं वा सर्वं सहे मे सहजं हि दुःखम्।
किन्तु त्वदग्रे शरणागतानां पराभवो नाथ न तेऽनुरूपः॥ २३॥*
निरासकस्यापि न तावदुत्सहे महेश हातुं तव पादपङ्कजम्।
रुषा निरस्तोऽपि शिशुः स्तनन्धयो न जातु मातुश्चरणौ जिहासति॥ २४॥*
तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरकं[1] हि वीक्षते॥ २५॥*
त्वदङ्घ्रिमुद्दिश्य कदापि केनचिद्यथा तथा वापि सकृत्कृतोऽञ्जलिः।
तदैव मुष्णात्यशुभान्यशेषतः शुभानि पुष्णाति न जातु हीयते॥ २६॥*

संसारमें ऐसा कोई निन्दित कर्म नहीं है, जिसको हजारों बार मैंने न किया हो, ऐसा मैं अब फलभोगके समयपर विवश (अन्य साधनहीन) होकर, हे मुकुन्द! आपके आगे बारम्बार रोता—क्रन्दन करता हूँ॥ २१॥ अनन्त महासागरके भीतर डूबते हुए मुझको आज अति विलम्बसे आप तटरूप होकर मिले हैं, और हे भगवन्! आपको भी आज यह दयाका अनुपम पात्र मिला है!॥ २२॥ [अब इस समय यदि आप मेरा दुःख दूर नहीं करते तो] मेरे लिये तो यह कोई नयी बात नहीं है, मैं तो सब सहन कर लूँगा, क्योंकि दुःख तो मेरे साथ ही उत्पन्न हुआ है; किन्तु आपके सामने शरणागतका पराभव होना आपके योग्य नहीं है—आपको शोभा नहीं देता॥ २३॥ हे महेश्वर! आप त्याग देंगे तो भी आपके चरणकमलोंके परित्याग करनेका साहस नहीं कर सकता; क्रोधवश गोदीसे अलग किया हुआ भी दूध पीनेवाला शिशु, अपनी माताके चरणोंको कभी नहीं छोड़ना चाहता॥ २४॥ जो पुरुष आपके अमृतवर्षी चरणकमलोंमें दत्तचित्त है, वह किसी और पदार्थकी इच्छा कैसे कर सकता है? मधुसे भरे हुए पङ्कजपर बैठा हुआ भ्रमर इक्षुरक (तालमखानेके पुष्प अथवा ईखके रस) की ओर कब दृष्टिपात करता है?॥ २५॥ आपके चरणोंके उद्देश्यसे, किसी भी समयमें, किसीने भी, जैसे-तैसे एक बार भी हाथ जोड़ दिया तो वह (नमस्कार) उसके समस्त पापोंको हर लेता है, पुण्यराशिकी पुष्टि करता है और उसका फिर कभी नाश नहीं होता॥ २६॥

---

* श्रीआलवन्दारस्तोत्रात्, श्लो० २६, २७, २८, २९, ३०, ३१।

१-'नेक्षुरसं' इति पाठान्तरम्।

उदीर्णसंसारदवाशुशुक्षणिं क्षणेन निर्वाप्य परां च निर्वृतिम्।
प्रयच्छति त्वच्चरणारुणाम्बुजद्वयानुरागामृतसिन्धुशीकरः॥ २७॥*
विलासविक्रान्तपरावरालयं नमस्यदार्तिक्षपणे कृतक्षणम्।
धनं महीयं तव पादपङ्कजं कदा नु साक्षात्करवाणि चक्षुषा॥ २८॥*
कदा पुनः शङ्खरथाङ्गकल्पकध्वजारविन्दाङ्कुशवज्रलाञ्छनम्।
त्रिविक्रम त्वच्चरणाम्बुजद्वयं मदीयमूर्द्धानमलङ्करिष्यति॥ २९॥*
विराजमानोज्ज्वलपीतवाससं स्मितातसीसूनसमामलच्छविम्।
निमग्ननाभिं तनुमध्यमुन्नतं विशालवक्षःस्थलशोभिलक्षणम्॥ ३०॥*
चकासतं ज्याकिणकर्कशैः शुभैश्चतुर्भिराजानुविलम्बिभिर्भुजैः।
प्रियावतंसोत्पलकर्णभूषणश्लथालकाबन्धविमर्दशंसिभिः ॥ ३१॥*
उदग्रपीनांसविलम्बिकुण्डलालकावलीबन्धुरकम्बुकन्धरम् ।
मुखश्रिया न्यक्कृतपूर्णनिर्मलामृतांशुबिम्बाम्बुरुहोज्ज्वलश्रियम्॥ ३२॥*

आपके युगलचरणरूपी अरुण कमलके अनुरागसे उत्पन्न हुए अमृत-सिन्धु (गङ्गाजी) का जलकण बढ़े हुए संसार-दावाग्निको क्षणमात्रमें शान्त करके परमानन्द देता है॥ २७॥ लीलामात्रसे ही पर-अपर सब लोकोंको (वामनरूपमें) नापनेवाले और प्रणतकी पीड़ाको हरनेमें ही अपना प्रत्येक क्षण लगानेवाले मेरे परमधन आपके पादपङ्कजको, नेत्रोंसे मैं कब प्रत्यक्ष देखूँगा?॥ २८॥ हे वामन! शङ्ख, चक्र, कल्पवृक्ष, ध्वजा, कमल, अङ्कुश, वज्र आदि शुभ चिह्नोंवाले आपके चरणयुगल, मेरे मस्तकको कब अलङ्कृत करेंगे॥ २९॥ जिनके अङ्गोंपर निर्मल पीताम्बर शोभा पा रहा है, जिसकी अमल श्यामल कान्ति प्रफुल्लित अतसी-पुष्पके समान सुन्दर है, जिनका देह ऊँचा, नाभि गम्भीर, कटिदेश (कमर) सूक्ष्म और विशाल वक्षःस्थल श्रीवत्सचिह्नसे सुशोभित हो रहा है [ऐसे आपको मैं कब अपनी सेवाद्वारा प्रसन्न करूँगा?]॥ ३०॥ जो प्रियतमा लक्ष्मीके शिरोभूषण कमलदलादि कर्णभूषणों तथा शिथिल अलक-बन्धके विमर्दकी सूचना देनेवाले हैं। [अति कोमल होते हुए भी] शार्ङ्गधनुषकी प्रत्यञ्चाके चिह्नोंसे कठोर हो गये हैं, ऐसे आजानुलम्बी सुन्दर चार भुजदण्डोंसे सुशोभित होनेवाले आपको [मैं कब प्रसन्न कर सकूँगा?]॥ ३१॥ उन्नत और पुष्ट कन्धोंपर लटकते हुए कुण्डल तथा अलकोंसे जिनकी शङ्खसदृश (उन्नत) ग्रीवा मनोहर मालूम होती है; जो अपने मुखकी शोभासे निर्मल पूर्णचन्द्रबिम्ब तथा श्वेत कमलकी कान्तिको तिरस्कृत कर रहे हैं, खिले

* श्रीआलवन्दारस्तोत्रात्, श्लो० ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७।

प्रबुद्धमुग्धाम्बुजचारुलोचनं सविभ्रमभ्रूलतमुज्ज्वलाधरम्।
शुचिस्मितं कोमलगण्डमुन्नसं ललाटपर्यन्तविलम्बितालकम्॥ ३३॥*
स्फुरत्किरीटाङ्गदहारकण्ठिकामणीन्द्रकाञ्चीगुणनूपुरादिभिः।
रथाङ्गशङ्खासिगदाधनुर्वरैर्लसत्तुलस्या वनमालयोज्ज्वलम्॥ ३४॥*
चकर्थ यस्या भवनं भुजान्तरं तव प्रियं धाम यदीयजन्मभू।
जगत्समग्रं यदपाङ्गसंश्रयं यदर्थमम्भोधिरमन्थ्यबन्धि च॥ ३५॥*
स्ववैश्वरूप्येण सदानुभूतयाप्यपूर्ववद्विस्मयमादधानया।
गुणेन रूपेण विलासचेष्टितैः सदा तवैवोचितया तव श्रिया॥ ३६॥*
तया सहासीनमनन्तभोगिनि प्रकृष्टविज्ञानबलैकधामनि।
फणामणिव्रातमयूखमण्डलप्रकाशमानोदरदिव्यधामनि॥ ३७॥*
निवासशय्यासनपादुकांशुकोपधानवर्षातपवारणादिभिः।
शरीरभेदैस्तव शेषतां गतैर्यथोचितं शेष इतीरिते जनैः॥ ३८॥*

हुए सुन्दर पद्मके समान जिनके मनोहर नेत्र हैं; विलासमयी भौंहें हैं, अमल अधर हैं, मधुर मुसकान है, कोमल कपोल, ऊँची नासिका और भालदेशमें लटकी हुई अलकें हैं [ऐसे आपको मैं कब आनन्दित करूँगा?]॥ ३२-३३॥ प्रकाशमान किरीट, भुजबन्द, हार, कण्ठी, जड़ाऊ रत्नोंकी किङ्किणी और नूपुर आदि आभूषणोंसे, शङ्ख, चक्र, गदा, खड्ग और धनुष आदि दिव्य आयुधोंसे तथा तुलसीमयी वनमालासे आप सुशोभित हैं॥ ३४॥ आपने अपनी भुजाओंका मध्यभाग (हृदय) ही जिसके लिये निवास-मन्दिर बनाया, जिसकी जन्मभूमि (क्षीरसागर) ही आपका प्रिय वासस्थान है, सारा संसार जिसके कटाक्षोंके आश्रित है तथा जिसके लिये आपने समुद्रका मन्थन और बन्धन किया, जो विश्वरूपसे आपके द्वारा सदा अनुभूत होनेपर भी नूतन-सी विस्मय उत्पन्न करती है, जो रूप, गुण और विलास-चेष्टाओंके द्वारा केवल आपके ही योग्य है॥ ३५-३६॥ उस लक्ष्मीजीके साथ आप अनन्त फणोंसे विशिष्ट शेषनागकी शय्यापर विराजमान रहते हैं, जो कि समयानुसार निवास, शय्या, आसन, पादुका, वस्त्र, तकिया और शीतवर्षादिनिवारक छत्रादिरूप नाना शरीरभेदोंके द्वारा आपके शेषत्व (अङ्गभाव) को प्राप्त होनेके कारण लोगोंसे 'शेष' कहे जाते हैं और फणोंकी मणियोंके किरण-जालसे अपना उदररूप दिव्य-धाम प्रकाशित किये रहते हैं तथा जो उत्तम ज्ञान और बलके एकमात्र आश्रय हैं॥ ३७-३८॥

---

* श्रीआलवन्दारस्तोत्रात्, श्लो० ३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३।

दासः सखा वाहनमासनं ध्वजो यस्ते वितानं व्यजनं त्रयीमयः।
उपस्थितं तेन पुरो गरुत्मता त्वदङ्घ्रिसंमर्दकिणाङ्कशोभिना॥ ३९॥*
त्वदीयभुक्तोज्झितशेषभोजिना त्वया निसृष्टात्मभरेण यद्यथा।
प्रियेण सेनापतिना निवेदितं तथानुजानन्तमुदारवीक्षणैः॥ ४०॥*
हताखिलक्लेशमलैः स्वभावतस्त्वदानुकूल्यैकरसैस्तवोचितैः।
गृहीततत्तत्परिचारसाधनैर्निषेव्यमाणं सचिवैर्यथोचितम्॥ ४१॥*
अपूर्वनानारसभावनिर्भरप्रबुद्धया मुग्धविदग्धलीलया।
क्षणाणुवत्क्षिप्तपरादिकालया प्रहर्षयन्तं महिषीं महाभुजम्॥ ४२॥*
अचिन्त्यदिव्याद्भुतनित्ययौवनस्वभावलावण्यमयामृतोदधिम्।
श्रियः श्रियं भक्तजनैकजीवितं समर्थमापत्सखमर्थिकल्पकम्॥ ४३॥*
भवन्तमेवानुचरन्निरन्तरं प्रशान्तनिश्शेषमनोरथान्तरः।

वेदत्रयी जिनका स्वरूप है, जो [अकेले ही समय-समयपर] आपके दास, सखा, वाहन, आसन, ध्वजा, वितान (चाँदनी) और चँवरका काम देते हैं, सवारीके समय आपके पैरोंकी रगड़से बने हुए चिह्नद्वारा जिनका अङ्ग सुशोभित है, वे गरुड़जी आपके सामने हाथ जोड़कर खड़े हैं॥ ३९॥ जो सदा आपकी प्रसादीमात्रको ही भोजन करनेवाले हैं तथा जिनपर आपने अपना सारा भार रख छोड़ा है, ऐसे प्रिय सेनापति (तथा प्रधान मन्त्री विष्वक्सेनजी) के निवेदनका आप अपनी उदार दृष्टिसे अनुमोदन करते हैं॥ ४०॥ स्वभावसे ही जिनके क्लेशरूप मल नष्ट हो चुके हैं तथा आपकी अनुकूलता ही जिनके लिये एकमात्र रस है ऐसे सचिवगण आपके योग्य छत्र, पंखा एवं चामरादि यथोचित उपचारोंको देकर आपकी सेवा कर रहे हैं॥ ४१॥ जो नित्य नूतन नाना प्रकारके [शृङ्गारादि] रसों तथा [विलासादि] भावोंसे परिपूर्ण एवं विकसित हैं और जिनमें ब्रह्मादिकोंकी आयु भी क्षणमात्र कालके अणुभागके समान बीत जाती है, ऐसी चातुर्यपूर्ण मोहिनी लीलाओंसे अपनी महारानी लक्ष्मीजीको आनन्दित करते हुए, आप विशाल बाहुओंसे युक्त होकर शोभा पा रहे हैं॥ ४२॥ जो अचिन्त्य, दिव्य, अद्भुत और नित्य यौवनयुक्त (सदा षोडशवर्षीय) हैं, स्वभावसे ही लावण्यमय अमृतके समुद्र हैं लक्ष्मीजीकी भी शोभा हैं, भक्तजनोंके मुख्यजीवनरूप हैं, समर्थ हैं, आपत्तिकालके सखा हैं और याचकजनोंके लिये कल्पवृक्ष हैं॥ ४३॥ ऐसे एक आपका ही निरन्तर अनुसरण करता हुआ अन्य सब मनोरथोंसे सर्वथा रहित और

* श्रीआलवन्दारस्तोत्रात्, श्लो० ४४, ४५, ४६, ४७, ४८।

कदाहमैकान्तिकनित्यकिङ्करः प्रहर्षयिष्यामि सनाथजीवितम्॥ ४४॥*
धिगशुचिमविनीतं निर्दयं मामलज्जं
परमपुरुष योऽहं योगिवर्याग्रगण्यैः।
विधिशिवसनकाद्यैर्ध्यातुमत्यन्तदूरं
तव परिजनभावं कामये कामवृत्तः॥ ४५॥*
अपराधसहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे।
अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात्कुरु॥ ४६॥*
अविवेकघनान्धदिङ्मुखे बहुधा सन्ततदुःखवर्षिणि।
भगवन् भवदुर्दिने पथः स्खलितं मामवलोकयाच्युत॥ ४७॥*
न मृषा परमार्थमेव मे शृणु विज्ञापनमेकमग्रतः।
यदि मे न दयिष्यसे ततो दयनीयस्तव नाथ दुर्लभः॥ ४८॥*
तदहं त्वदृते न नाथवान्मदृते त्वं दयनीयवान्न च।
विधिनिर्मितमेतदन्वयं भगवन् पालय मा स्म जीहपः॥ ४९॥*
वपुरादिषु योऽपि कोऽपि वा गुणतोऽसानि यथातथाविधः।

आपका ही ऐकान्तिक नित्यदास होकर मैं इस जीवनको सनाथ मानता हुआ कब आपको सन्तुष्ट करूँगा॥ ४४॥ हे परम पुरुष! मुझ अपवित्र, अविनीत, निर्दय और निर्लज्जको धिक्कार है, जो स्वेच्छाचारी होकर भी मैं मुख्य-मुख्य योगीश्वरों तथा ब्रह्मा, शिव और सनकादिके ध्यानमें भी न आ सकनेवाले आपके दुर्लभ परिजन-भावकी कामना करता हूँ॥ ४५॥ हे हरे! हजारों अपराध करनेवाले, भयङ्कर संसार-समुद्रमें पड़े हुए और निराश्रय मुझ शरणागतको आप केवल अपनी कृपासे ही अधीन कर लीजिये॥ ४६॥ हे भगवन्! हे अच्युत! जिसने अविवेकरूपी बादलोंद्वारा दिशाओंको अन्धकाराच्छन्न कर दिया है और जिसके कारण निरन्तर दुःखरूपी वृष्टि हो रही है, उस संसाररूपी दुर्दिनमें मार्गसे गिरे हुए मेरी ओर आप निहार लीजिये॥ ४७॥ हे नाथ! इस मेरे एकमात्र विज्ञापनको आप पहले सुन लीजिये, यह झूठी बात नहीं है, सत्य ही है—यदि आप मुझपर दया नहीं करेंगे तो फिर आपको दयापात्र मिलना कठिन ही है॥ ४८॥ हे भगवन्! तुम्हारे बिना मैं नाथवान् नहीं हूँ और मुझ दीनके बिना आप दीनदयालु नहीं हो सकते; इसलिये विधि-निर्मित इस सम्बन्धको आप निभाइये। इसका त्याग न होने दीजिये॥ ४९॥ हे नाथ! शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि आदिमें मैं जो कोई भी होऊँ,

* श्रीआलवन्दारस्तोत्रात्, श्लो० ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४।

तदयं तव पादपद्मयोरहमद्यैव मया समर्पित:॥ ५०॥*
मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव।
नियतस्वमिति प्रबुद्धधीरथवा किन्नु समर्पयामि ते॥ ५१॥*
अवबोधितवानिमां यथा मयि नित्यां भवदीयतां स्वयम्।
कृपयैवमनन्यभोग्यतां भगवन् भक्तिमपि प्रयच्छ मे॥ ५२॥*
तव दास्यसुखैकसङ्गिनां भवनेष्वस्त्वपि कीटजन्म मे।
इतरावसथेषु मा स्म भूदपि मे जन्म चतुर्मुखात्मना॥ ५३॥*
सकृत्त्वदाकारविलोकनाशया तृणीकृतानुत्तमभुक्तिमुक्तिभिः।
महात्मभिर्मामवलोक्यतां नय क्षणेऽपि ते यद्विरहोऽतिदुस्सहः॥ ५४॥*
न देहं न प्राणान्न च सुखमशेषाभिलषितं
न चात्मानं नान्यत्किमपि तव शेषत्वविभवात्।
बहिर्भूतं नाथ क्षणमपि सहे यातु शतधा
विनाशं तत्सत्यं मधुमथन विज्ञापनमिदम्॥ ५५॥*

गुणके अनुसार [भला-बुरा] जैसा भी होऊँ, मैं तो आज ही अपनेको आपके चरण-कमलोंमें समर्पण कर चुका॥ ५०॥ हे प्रभो! स्वयं मैं और जो कुछ भी मेरा है, वह सब आपका ही नियत धन है, हे माधव! यही मेरी बुद्धिमें आता है, ऐसी दशामें मैं आपको क्या समर्पण करूँ?॥ ५१॥ हे भगवन्! जिस प्रकार आपने मुझे अपनी नित्यस्थित भवदीयता (मैं आपका हूँ इस भाव) को स्वयं जनाया, इसी तरह कृपा करके मुझे अपनी अनन्य भक्ति भी दीजिये॥ ५२॥ आपके दासत्व-भावका ही सुखानुभव करनेवाले सज्जनोंके घरमें तो मुझे कीट-योनि भी मिले, पर इससे भिन्न तो मुझे ब्रह्माकी योनि भी प्राप्त न हो [यही मेरी प्रार्थना है]॥ ५३॥ जिन्होंने आपके स्वरूपको एक बार देखनेकी इच्छासे उत्तमोत्तम भोग और मुक्तिको भी तृणवत् त्याग दिया है तथा जिनका क्षणभरका भी वियोग आपके अत्यन्त असह्य है, ऐसे महात्माओंके दृष्टि-पथमें मुझे डाल दीजिये॥ ५४॥ हे नाथ! आपकी दासताके वैभवसे रहित होनेवाले देह, प्राण, सुख, सर्वकामनाएँ, अपनी आत्मा तथा अन्य जो कुछ भी हो उसे क्षणभर भी नहीं सह सकता हूँ, चाहे ये सैकड़ों प्रकारसे नष्ट हो जायँ; हे मधुसूदन! यह मेरा विज्ञापन सत्य है॥ ५५॥

---

* श्रीआलवन्दारस्तोत्रात्, श्लो० ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०।

दुरन्तस्यानादेरपरिहरणीयस्य महतो
विहीनाचारोऽहं नृपशुरशुभस्यास्पदमपि।
दयासिन्धो बन्धो निरवधिकवात्सल्यजलधे
तव स्मारं स्मारं गुणगणमितीच्छामि गतभीः॥ ५६॥*
अनिच्छन्नप्येवं यदि पुनरितीच्छन्निव रज-
स्तमश्छन्नश्छद्मस्तुतिवचनभङ्गीमरचयम्।
तथापीत्थं रूपं वचनमवलम्ब्यापि कृपया
त्वमेवैवंभूतं धरणिधर मे शिक्षय मनः॥ ५७॥*
पिता त्वं माता त्वं दयिततनयस्त्वं प्रियसुहृ-
त्त्वमेव त्वं मित्रं गुरुरपि गतिश्चासि जगताम्।
त्वदीयस्त्वद्भृत्यस्तव परिजनस्त्वद्गतिरहं
प्रपन्नश्चैवं सत्यहमपि तवैवास्मि हि भरः॥ ५८॥*
अमर्यादः क्षुद्रश्चलमतिरसूयाप्रभवभूः
कृतघ्नो दुर्मानी स्मरपरवशो वञ्चनपरः।

हे दयासिन्धो! हे दीनबन्धो! मैं दुराचारी, नर-पशु, आदि-अन्तरहित और अपरिहरणीय महान् अशुभोंका भण्डार हूँ तो भी हे अपारवात्सल्यसागर! आपके गुण-गणोंका स्मरण कर-करके निर्भय हो जाऊँ, ऐसी इच्छा करता हूँ!॥ ५६॥ हे धरणीधर! यद्यपि मैंने रजोगुण और तमोगुणसे आच्छन्न होकर पूर्वोक्तरूपसे वस्तुतः इच्छा न रखते हुए भी, इच्छुककी भाँति, कपटयुक्त स्तुति-वचनोंका निर्माण किया है; तथापि मेरे ऐसे वचनोंको भी अपनाकर आप ही कृपा करके मेरे मनको [सच्चे भावसे स्तुति करनेयोग्य होनेकी] शिक्षा दें॥ ५७॥ हे हरे! आप ही जगत्के पिता-माता† प्रिय पुत्र, प्यारे सुहृद्, मित्र, गुरु और गति हैं, मैं आपका ही सम्बन्धी, आपका ही दास, आपका ही परिचारक, आपको ही [एकमात्र] गति माननेवाला और आपकी ही शरण हूँ, इस प्रकार अब आपहीपर मेरा सारा भार है॥ ५८॥ भगवन्! मैं तो मर्यादाका पालन न करनेवाला, नीच, चञ्चलमति और [गुणोंमें भी दोष-दर्शनरूप] असूयाकी जन्मभूमि हूँ; साथ ही कृतघ्न, दुष्ट, अभिमानी, कामी, ठग,

---

* श्रीआलवन्दारस्तोत्रात्, श्लो० ६१, ६२ ६३।

† त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

नृशंसः पापिष्ठः कथमहमितो दुःखजलधे-
रपारादुत्तीर्णस्तव परिचरेयं चरणयोः॥ ५९॥*
रघुवर यदभूस्त्वं तादृशो वायसस्य
प्रणत इति दयालुर्यच्च चैद्यस्य कृष्ण।
प्रतिभवमपराद्धुर्मुग्ध सायुज्यदोऽभू-
र्वद किमपदमागस्तस्य तेऽस्ति क्षमायाः॥ ६०॥*
ननु प्रपन्नः सकृदेव नाथ तवाहमस्मीति च याचमानः।
तवानुकम्प्यः स्मरतः प्रतिज्ञां मदेकवर्जं किमिदं व्रतं ते॥ ६१॥*
(४ संख्यादारभ्य ६१ संख्यापर्यन्तं सर्वं श्रीमद्यामुनाचार्यस्वामिप्रणीतालवन्दारस्तोत्रात्)
विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद्विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥ ६२ ॥
मधुमर्दि महन्मञ्जु मन्द्यं मतिमतामहम्।
मन्येऽमलमदोऽमन्दमहिम श्यामलं महः॥ ६३॥†

क्रूर और महापापी हूँ; भला, मैं किस प्रकार इस अपार दुःख-सागरसे पार होकर आपके चरणोंकी परिचर्या करूँ?॥ ५९॥ हे रघुवर! जब कि उस काक [रूपधारी जयन्त] के ऊपर, यह सोचकर कि, 'यह मेरी शरणमें आया है, आप वैसे दयालु हो गये थे, और हे सुन्दर कृष्ण! जो अपने प्रत्येक जन्ममें आपका अपराध करता आ रहा था, उस शिशुपालको भी जब आपने सायुज्यमुक्ति दे दी तो अब कौन ऐसा अपराध है, जो आपकी क्षमाका विषय न हो?॥ ६०॥ हे नाथ! एक बार भी जो आपकी शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर याचना करता है, वह अपनी प्रतिज्ञाको‡ सदा स्मरण रखनेवाले आपका कृपापात्र बन जाता है; परन्तु क्या आपकी यह प्रतिज्ञा एकमात्र मुझको ही छोड़कर प्रवृत्त होती है?॥ ६१॥ विपत्ति सच्ची विपत्ति नहीं है और सम्पत्ति भी सच्ची सम्पत्ति नहीं है, अपितु, विष्णुका विस्मरण ही विपत्ति है और नारायणका स्मरण ही सम्पत्ति है॥ ६२॥ मतिमान् महात्माओंके वन्दनीय, मधुदैत्यका मर्दन करनेवाले, महनीय, मनोहर और उत्कृष्ट महिमाशाली निर्मल श्यामल तेजको ही मैं अपना आराध्यदेव मानता हूँ॥ ६३॥

* श्रीआलवन्दारस्तोत्रात्, श्लो० ६५, ६६, ६७।

† पाण्डेयरामनारायणदत्तशास्त्रिणः।

‡ सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥ (वा० रा० ६।१८।३३)

नारायणो नाम नरो नराणां प्रसिद्धचौरः कथितः पृथिव्याम्।
अनेकजन्मार्जितपापसञ्चयं हरत्यशेषं स्मरतां सदैव॥ ६४॥*
मेघश्यामं पीतकौशेयवासं श्रीवत्साङ्कं कौस्तुभोद्भासिताङ्गम्।
पुण्योपेतं पुण्डरीकायताक्षं विष्णुं वन्दे सर्वलोकैकनाथम्॥ ६५॥*
स्वकर्मफलनिर्दिष्टां यां यां योनिं व्रजाम्यहम्।
तस्यां तस्यां हृषीकेश त्वयि भक्तिर्दृढास्तु मे॥ ६६॥*
आर्ता विषण्णाः शिथिलाश्च भीता घोरेषु व्याघ्रादिषु वर्तमानाः।
सङ्कीर्त्य नारायणशब्दमात्रं विमुक्तदुःखा सुखिनो भवन्ति॥ ६७॥*
अहं तु नारायणदासदासदासस्य दासस्य च दासदासः।
अन्येभ्य ईशो जगतो नराणामस्मादहं चान्यतरोऽस्मि लोके॥ ६८॥*
ये ये हताश्चक्रधरेण राजंस्त्रैलोक्यनाथेन जनार्दनेन।
ते ते गता विष्णुपुरीं प्रयाताः क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः॥ ६९॥*
मज्जन्मनः फलमिदं मधुकैटभारे
मत्प्रार्थनीयमदनुग्रह एष एव।

मनुष्योंमें नारायण नामका एक पुरुषविशेष है, जो संसारमें प्रसिद्ध चोर कहा जाता है, क्योंकि वह स्मरण करते ही अनेक जन्मोंकी कमायी हुई सभी पापराशिको सदा ही हड़प जाता है॥ ६४॥ नवीन मेघके समान श्यामसुन्दर, रेशमी पीताम्बरधारी, श्रीवत्सचिह्नाङ्कित, कौस्तुभमणिसे देदीप्यमान अङ्गोंवाले, पुण्यात्मा, कमलनयन और सम्पूर्ण लोकोंके एकमात्र स्वामी श्रीविष्णुभगवान्‌को प्रणाम करता हूँ॥ ६५॥ हे इन्द्रियोंके सूत्रधार! अपने कर्मोंके अनुसार होनेवाली जिन-जिन योनियोंमें मैं जाऊँ, हर एकमें तुमसे मेरा अटूट प्रेम बना रहे॥ ६६॥ घबराये हुए, विषादयुक्त, ढीले पड़े हुए, भयभीत हुए, भयङ्कर बाघ आदिके चंगुलमें फँसे हुए मनुष्य भी 'नारायण' नाममात्रका उच्चारण करते ही दुःखसे छूटकर सुखी हो जाते हैं॥ ६७॥ मैं तो नारायणके दासोंके दासका अनुदास और उनके भी दासानुदासका दास हूँ, मानव-जगत्‌के राजालोग दूसरोंके लिये हैं, इसलिये संसारमें उनसे मैं अलग ही रहनेवाला हूँ॥ ६८॥ हे राजन्! त्रैलोक्यपति चक्रधारी जनार्दनके द्वारा जो लोग मारे गये, वे सभी विष्णुलोकको चले गये, इस देवका क्रोध भी वरकी तरह ही कल्याणप्रद है॥ ६९॥ हे माधव! हे लोकनाथ! मेरे जन्मका यही फल है, मेरी प्रार्थनासे मुझपर होनेवाली दया भी यही

* श्रीपाण्डवगीतायाम्, श्लो० ४, ५, १०, १९, २०, २३।

त्वद्भृत्यभृत्यपरिचारकभृत्यभृत्य-
भृत्यस्य भृत्य इति मां स्मर लोकनाथ॥ ७०॥*
यज्ञेशाच्युत गोविन्द माधवानन्त केशव।
कृष्ण विष्णो हृषीकेश वासुदेव नमोऽस्तु ते॥ ७१॥*
तत्रैव गङ्गा यमुना च वेणी गोदावरी सिन्धुसरस्वती च।
सर्वाणि तीर्थानि वसन्ति तत्र यत्राच्युतोदारकथाप्रसङ्गः॥ ७२॥*
नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥ ७३॥*
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥ ७४॥*
नित्योत्सवस्तदा तेषां नित्यश्रीर्नित्यमङ्गलम्।
येषां हृदिस्थो भगवान्मङ्गलायतनं हरिः॥ ७५॥*
नमामि नारायणपादपङ्कजं करोमि नारायणपूजनं सदा।
वदामि नारायणनाम निर्मलं स्मरामि नारायणतत्त्वमव्ययम्॥ ७६॥*

है कि आप मुझे अपने भृत्यका भृत्य, उसके सेवकका सेवक और उसके दासका दासानुदासरूपसे याद रखें॥ ७०॥ हे यज्ञोंके स्वामी! अच्युत, गोविन्द, माधव, अनन्त, केशव, कृष्ण, विष्णु, हृषीकेश! तुम्हें नमस्कार है॥ ७१॥ गङ्गा, यमुना, त्रिवेणी, गोदावरी, सिन्धु, सरस्वती और अन्य सभी तीर्थ वहीं निवास करते हैं, जहाँ भगवान्की उदार कथा होती रहती है॥ ७२॥ हे नाथ! जिन-जिन हजारों योनियोंमें जाऊँ हर एकमें तुम्हारी अचल भक्ति मुझे प्राप्त हो॥ ७३॥ मूढ़ लोगोंकी जिस प्रकार विषयोंमें नित्य प्रीति बनी रहती है, उसी प्रकार तुम्हारा बारम्बार स्मरण करते हुए मेरे हृदयमें भी वही प्रीति हो॥ ७४॥ जबसे जिनके हृदयमें मङ्गलधाम हरि बसने लगते हैं, तभीसे उनके लिये नित्य उत्सव है, नित्य लक्ष्मी और नित्य मङ्गल है!॥ ७५॥ मैं नारायणके चरणारविन्दोंको नमस्कार करता हूँ, नारायणहीकी नित्य पूजा करता हूँ, नारायणके निर्मल नामका उच्चारण करता हूँ और नारायणके अव्यय तत्त्वका स्मरण करता हूँ॥ ७६॥

---

* श्रीपाण्डवगीतायाम्, श्लो० २४, २९ (वि० पु० २। १३), ३८, ४१-४२ (वि० पु० १। २०। १८-१९), ४४, ६०।

नारायणेति मन्त्रोऽस्ति वागस्ति वशवर्तिनी।
तथापि नरके घोरे पतन्तीत्येतदद्भुतम्॥ ७७॥*
आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्यैवं पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥ ७८॥*
आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति॥ ७९॥*

(६४ संख्यादारभ्य ७९ संख्यापर्यन्तं श्रीपाण्डवगीतायाम्)

श्रीवल्लभेति वरदेति दयापरेति
भक्तप्रियेति भवलुण्ठनकोविदेति।
नाथेति नागशयनेति जगन्निवासे-
त्यालापिनं प्रतिदिनं कुरु मां मुकुन्द॥ ८०॥†
नाहं वन्दे तव चरणयोर्द्वन्द्वमद्वन्द्वहेतोः
कुम्भीपाकं गुरुमपि हरे नारकं नापनेतुम्।
रम्या रामा मृदुतनुलता नन्दने नापि रन्तुं
भावे भावे हृदयभवने भावयेयं भवन्तम्॥ ८१॥†

नारायणरूप मन्त्रके रहते हुए और वाणीके स्ववश रहते हुए भी लोग नरकमें गिरते हैं—यह बड़ा आश्चर्य है!॥ ७७॥ सभी शास्त्रोंका मन्थन करके, तदनुसार बारम्बार विचार करके, यही सार निकला है कि—सदैव नारायणहीका ध्यान करना चाहिये॥ ७८॥ जैसे आकाशसे गिरा हुआ जल अन्तमें समुद्रमें ही जा मिलता है, उसी प्रकार सभी देवोंके प्रति किया हुआ नमस्कार भगवान् केशवके ही पास जा पहुँचता है॥ ७९॥ हे मुकुन्द! मुझे ऐसा बनाइये कि मैं—'हे रमानाथ! हे वरदाता! दयापरायण, भक्तप्रेमी, आवागमनको छुड़ानेमें चतुर, नाथ, शेषशायी, जगदाधार!'—इस प्रकार निरन्तर बोलता रहूँ॥ ८०॥ हे हरे! मैं आपके चरणयुगलमें इसलिये नमस्कार नहीं करता हूँ कि मेरे द्वन्द्व (शीतोष्णादि) नाश हों, कुम्भीपाकादि बड़े-बड़े नरकोंसे बचा रहूँ और नन्दनवनमें कोमलाङ्गी अप्सराओंके साथ रमण करूँ; अपितु इसलिये कि मैं सदा हृदय-मन्दिरमें आपकी ही भावना करता रहूँ॥ ८१॥

---

* श्रीपाण्डवगीतायाम्, श्लो० ६२, ७३ (नरसिंहपु० ६४। ७७), ८०।

† श्रीमुकुन्दमालायाम्, श्लो० २, ६।

नास्था धर्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे
यद्यद्भव्यं भवतु भगवन्पूर्वकर्मानुरूपम्।
एतत्प्रार्थ्यं मम बहु मतं जन्मजन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु॥ ८२॥*
दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक प्रकामम्।
अवधीरितशारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥ ८३॥*
भवजलधिमगाधं दुस्तरं निस्तरेयं
कथमहमिति चेतो मा स्म गाः कातरत्वम्।
सरसिजदृशि देवे तावकी भक्तिरेका
नरकभिदि निषण्णा तारयिष्यत्यवश्यम्॥ ८४॥*
तृष्णातोये मदनपवनोद्धूतमोहोर्मिमाले
दारावर्ते तनयसहजग्राहसङ्घाकुले च।
संसाराख्ये महति जलधौ मज्जतां नस्त्रिधामन्
पादाम्भोजे वरद भवतो भक्तिभावं प्रदेहि॥ ८५॥*
आम्नायाभ्यसनान्यरण्यरुदितं वेदव्रतान्यन्वहं
मेदश्छेदफलानि पूर्तविधयः सर्वं हुतं भस्मनि।

हे भगवन्! मैं धर्म, धन-संग्रह और कामभोगकी आशा नहीं रखता, पूर्वकर्मानुसार जो कुछ होना हो सो हो जाय, पर मेरी यही बार-बार प्रार्थना है कि जन्म-जन्मान्तरोंमें भी आपके चरणारविन्द-युगलमें मेरी निश्चल भक्ति बनी रहे॥ ८२॥ हे नरकनाशक! मैं स्वर्ग, पृथ्वी या नरकमें ही क्यों न रहूँ, किन्तु शरत्कालीन कमलको तिरस्कृत करनेवाले आपके चरण-युगलको मरते समय भी याद करता रहूँ॥ ८३॥ हे मन! मैं इस अथाह और दुस्तर भवसागरको कैसे पार करूँगा?—इस चिन्तासे कातर मत हो। क्योंकि कमललोचन देवमें जो तुम्हारी ऐकान्तिकी भक्ति बनी हुई है, वह तुम्हें अवश्य ही पार पहुँचावेगी॥ ८४॥ हे सर्वव्यापी! हे वरदाता! तृष्णारूपी जल, कामरूपी आँधीसे उठी हुई मोहमयी तरङ्गमाला, स्त्रीरूप भँवर और भाई-पुत्ररूपी ग्राहोंसे भरे हुए इस संसाररूपी महान् समुद्रमें डूबते हुए हमलोगोंको अपने चरणारविन्दकी भक्ति दीजिये॥ ८५॥ जिस भगवान्‌के चरण-युगलोंका स्मरण किये बिना वेदाभ्यास अरण्यरोदन, व्रत शरीरशोषणमात्र, कर्मकाण्ड भस्ममें दी हुई

* श्रीमुकुन्दमालायाम्, श्लो० ७-८, १७-१८।

तीर्थानामवगाहनानि च गजस्नानं विना यत्पद-
द्वन्द्वाम्भोरुहसंस्मृतिं विजयते देवः स नारायणः॥ ८६॥*

भवजलधिगतानां द्वन्द्ववाताहतानां
सुतदुहितृकलत्रत्राणभारार्दितानाम्।
विषमविषयतोये मज्जतामप्लवानां
भवतु शरणमेको विष्णुपोतो नराणाम्॥ ८७॥*

आनन्द गोविन्द मुकुन्द राम नारायणानन्त निरामयेति।
वक्तुं समर्थोऽपि न वक्ति कश्चिदहो जनानां व्यसनानि मोक्षे॥ ८८॥*

क्षीरसागरतरङ्गसीकरासारतारकितचारुमूर्तये।
भोगिभोगशयनीयशायिने माधवाय मधुविद्विषे नमः॥ ८९॥*

प्रभो वेङ्कटेश प्रभा भूयसी ते तमः संछिनत्ति प्रदेशे ह्यशेषे।
अहो मे हृदद्रेर्गुहागूढमन्धन्तमो नैति नाशंकिमेतन्निदानम्॥ ९०॥†

कदा शृङ्गैः स्फीते मुनिगणपरीते हिमनगे
द्रुमावीते शीते सुरमधुरगीते प्रतिवसन्।

आहुतिके समान और तीर्थस्नान गजस्नानके समान ही निरर्थक रह जाते हैं, ऐसे नारायणदेवकी बलिहारी है॥ ८६॥ जो संसारसागरमें गिरे हुए हैं, [सुख-दुःखादि] द्वन्द्वरूपी वायुसे आहत हो रहे हैं, पुत्र-पुत्री, स्त्री आदिके पालन-पोषणके भारसे आर्त्त हैं और विषयरूपी विषम जलराशिमें बिना नौकाके डूब रहे हैं, उन पुरुषोंके लिये एकमात्र जहाजरूप भगवान् विष्णु ही शरण हों॥ ८७॥ आश्चर्य है कि लोगोंको मोक्षकी ओर जानेमें बाधाएँ उपस्थित होती हैं, जो कि बोलनेमें समर्थ होनेपर भी कोई आनन्द, गोविन्द, मुकुन्द, राम, नारायण, अनन्त, निरामय—इस प्रकार नहीं पुकारते॥ ८८॥ क्षीरसागरकी तरङ्गोंके छींटोंकी वर्षासे जिनकी श्यामल मूर्ति ताराओंसे आवृत हुई-सी अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होती है तथा जो शेषनागके शरीररूपी शय्यापर शयन करते हैं, उन मधुसूदन भगवान् माधवको नमस्कार हो॥ ८९॥ हे वेङ्कटेश्वर स्वामिन्! आपकी प्रचुर मात्रामें फैली हुई प्रभा सारे संसारके अन्धकारका नाश करती है; किन्तु आश्चर्य है कि मेरे हृदयाचलकी गुहामें छिपा हुआ अन्धकार नष्ट नहीं होता है, इसका क्या कारण है?॥ ९०॥ हे संसारतापहारिन्! हे पुनर्जन्मसे छुड़ानेवाले! [ऊँची-ऊँची] चोटियोंसे बड़े प्रतीत होनेवाले, वृक्षोंसे घिरे हुए, देवोंके मधुर संगीतसे सुशोभित

* श्रीमुकुन्दमालायाम्, श्लो० २०, ११, २१, २२।
† स्वामिनोऽनन्ताचार्यस्य वेङ्कटेशाक्षमास्तोत्रात्।

क्वचिद्ध्यानासक्तो विषयसुविविक्तो भवहर
स्मरंस्ते पादाब्जं जनिहर समेष्यामि विलयम्॥ ९१॥*
यन्नामकीर्तनपरः श्वपचोऽपि नूनं
हित्वाखिलं कलिमलं भुवनं पुनाति।
दग्ध्वा ममाघमखिलं करुणेक्षणेन
दृग्गोचरो भवतु मेऽद्य स दीनबन्धुः॥ ९२॥†
सर्ववेदमयी गीता सर्वधर्ममयो मनुः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्वदेवमयो हरिः॥ ९३॥
वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते॥ ९४॥‡
नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नायं कलङ्कः शयितो मुरारिः॥ ९५॥$
अरे भज हरेर्नाम क्षेमधाम क्षणे क्षणे।
बहिस्सरति निःश्वासे विश्वासः कः प्रवर्तते॥ ९६॥+

और मुनिगणोंसे सेवित ठंढे हिमालयमें निवास करता हुआ कहीं विषयोंसे विरक्त और ध्यानमें मग्न होकर, आपके चरणारविन्दोंका स्मरण करता हुआ मैं कब तन्मय हो जाऊँगा?॥ ९१॥ जिनके नाम-कीर्तनमें तत्पर चाण्डाल भी अपने समस्त कलिमलका नाश करके सम्पूर्ण संसारको निश्चय ही पवित्र कर देता है, वे दीनबन्धु हमारे सभी पापोंको अपनी दया-दृष्टिसे भस्म करके, मेरी आँखोंके सामने प्रकट हों॥ ९२॥ गीता सर्ववेदमयी है, मनुस्मृति सर्वधर्ममयी है, गङ्गा सर्वतीर्थमयी है और भगवान् हरि सर्वदेवमय हैं॥ ९३॥ वेद, रामायण, पुराण और महाभारत—इन सभीके आदि, मध्य और अन्तमें सब जगह भगवान्हीका गुणानुवाद है॥ ९४॥ यह आकाश नहीं, समुद्र है; ये तारागण नहीं, समुद्र-फेनके कण हैं; यह चन्द्रमण्डल नहीं, कुण्डलाकार बैठे हुए शेषजी हैं और (चन्द्रबिम्बमें) ये धब्बे नहीं, सोये हुए विष्णु ही हैं॥ ९५॥ अरे उस प्रेम-धाम हरिका नाम भज, [क्षण-क्षणमें] बाहर निकलनेवाले श्वासपर क्या विश्वास है?॥ ९६॥

---

* स्वामिब्रह्मानन्दस्य विष्णुमहिम्नःस्तोत्रात्। † स्वामिब्रह्मानन्दस्य दीनबन्ध्वष्टकस्तोत्रात्।

‡ महाभारते १८।६।९३।

$ चौरकविविल्हणस्य।

+ गुरुकौमुद्याम्।

कदा प्रेमोद्गारैः पुलकिततनुः साश्रुनयनः
स्मरन्नुच्चैः प्रीत्या शिथिलहृदयो गद्गदगिरा।
अये श्रीमन् विष्णो रघुवर यदूत्तंस नृहरे
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्॥ ९७ ॥
तपन्तु तापैः प्रपतन्तु पर्वतादटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमान्।
यजन्तु यागैर्विवदन्तु वादैर्हरिं विना नैव मृतिं तरन्ति॥ ९८ ॥*
अभिमानं सुरापानं गौरवं रौरवं समम्।
प्रतिष्ठा सूकरीविष्ठा त्रयं त्यक्त्वा हरिं भजेत्॥ ९९ ॥
संसारसागरं घोरमनन्तं क्लेशभाजनम्।
त्वामेव शरणं प्राप्य निस्तरन्ति मनीषिणः॥ १०० ॥†
न ते रूपं न चाकारो नायुधानि न चास्पदम्।
तथापि पुरुषाकारो भक्तानां त्वं प्रकाशसे॥ १०१ ॥†
किं पाद्यं पदपङ्कजे समुचितं यत्रोद्भवा जाह्नवी
किं वार्घ्यं मुनिपूजिते शिरसि ते भक्त्याहृतं साम्प्रतम्।

प्रेमोद्गारोंसे पुलकितशरीर, सजलनयन और प्रेमसे शिथिलहृदय होकर गद्गद वाणीसे, 'हे श्रीमन् विष्णो! हे रघुवर! हे यदुवंशभूषण! हे नृसिंह! प्रसन्न होइये'—ऐसा उच्चस्वरसे कहता हुआ, मैं अपने दिनोंको क्षणके समान कब बिताऊँगा?॥ ९७॥ चाहे कोई तप करे, पर्वतोंसे गिरे, तीर्थोंमें भ्रमण करे, शास्त्र पढ़े, यज्ञ-यागादि करे अथवा तर्क-वितर्कोंद्वारा विवाद करे, परन्तु श्रीहरि (की कृपा) के बिना कोई भी मृत्युको नहीं पार कर सकता॥ ९८॥ अभिमान मद्यपानके समान है, गौरव (बड़प्पन) रौरवनरकके तुल्य है और प्रतिष्ठा (मान-बड़ाई) सूकर-विष्ठाके सदृश है; अतः इन तीनोंको त्यागकर हरिका भजन करे॥ ९९॥ ज्ञानीजन आपकी ही शरण लेकर इस अपार दुःखमय भयङ्कर संसार-सागरसे पार हो जाते हैं॥ १००॥ वस्तुतः आपका कोई रूप, आकार, आयुध और स्थान नहीं है तो भी भक्तोंके लिये आप पुरुषरूपमें प्रकट होते हैं॥ १०१॥ जिन चरणोंसे पुण्यसलिला भागीरथीका उद्भव हुआ है, उनको पाद्यरूपसे क्या देना उचित है? जिस आपके मस्तकका मुनिजनोंने पूजन किया है, अब उसपर भक्तिपूर्वक अर्घ्य किसका दें?

---

* श्रीधरस्य।

† महापुरुषविद्यायाम्।

किं पुष्पं त्वयि शोभनं व्रजपते सत्पारिजातार्चिते
किं स्तोत्रं गुणसागरे त्वयि हरे केनार्चयेत्त्वां नरः॥ १०२॥
माता च कमला देवी पिता देवो जनार्दनः।
बान्धवा विष्णुभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्॥ १०३॥*
केचिद् वदन्ति धनहीनजनो जघन्यः
केचिद् वदन्ति गुणहीनजनो जघन्यः।
व्यासो वदत्यखिलवेदविशेषविज्ञो
नारायणस्मरणहीनजनो जघन्यः॥ १०४॥†
त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥ १०५॥‡
शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम्॥ १०६॥

और हे व्रजराज! कल्पतरुके सुन्दर पुष्पोंसे पूजित आपको पुष्पाञ्जलि किसकी दें? तथा हे गुणोंके सागर हरे! आपका स्तवन भी कैसे करें? तो फिर कहिये, मनुष्य आपका पूजन किस प्रकार करे!॥ १०२॥ मेरी माता श्रीलक्ष्मीजी हैं, पिता विष्णुभगवान् हैं, बन्धुजन भगवद्भक्त हैं और सम्पूर्ण त्रिभुवन मेरा स्वदेश है॥ १०३॥ कोई तो धनहीनमनुष्यको नीच कहते हैं और कोई गुणहीनको नीच बतलाते हैं; किन्तु सम्पूर्ण वेदोंके विशेष ज्ञाता श्रीवेदव्यासजी तो हरिस्मरणहीन पुरुषको ही नीच कहते हैं॥ १०४॥ हे देवदेव! तुम ही मेरी माता हो, तुम ही पिता हो, तुम ही बन्धु हो, तुम ही सखा हो, तुम ही विद्या हो, तुम ही धन हो और तुम ही मेरे सर्वस्व हो॥ १०५॥ सर्वलोकोंके एकमात्र स्वामी भवभयहारी भगवान् विष्णुकी वन्दना करता हूँ, जो शान्तस्वरूप हैं, शेषशायी हैं, कमलनाभ और सुरेश्वर हैं, जो विश्वके आधार, आकाशके समान निर्लेप मेघवर्ण और सुन्दर शरीरवाले हैं तथा जो लक्ष्मीजीके आनन्दवर्धक, कमलनयन और योगियोंके द्वारा ध्यानगम्य हैं॥ १०६॥

---

* चाणक्यनीतेः।

† श्रीधरस्य व्रजविहारात्।

‡ पाण्डवगीतायाम् २८।

सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलं सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम्।
सहारवक्ष:स्थलकौस्तुभश्रियं नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम्॥ १०७ ॥
जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके।
ज्वालामालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत्॥ १०८ ॥*
यं ब्रह्मा वरुणेन्द्र रुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥ १०९ ॥†
केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे[1] प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरं धारणया स्मरन्ति॥ ११० ॥†
प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं कदम्बकिञ्जलकपिशङ्गवाससम्।
लसन्महारत्नहिरण्मयाङ्गदं स्फुरन्महारत्नकिरीटकुण्डलम्॥ १११ ॥†

उन चतुर्भुज भगवान् विष्णुको मैं सिरसे प्रणाम करता हूँ, जो शङ्ख-चक्र धारण किये हैं, किरीट और कुण्डलोंसे विभूषित हैं, पीताम्बर ओढ़े हुए हैं, सुन्दर कमल-से जिनके नेत्र हैं और जिनके वक्षःस्थलमें वनमालासहित कौस्तुभमणिकी अनूठी शोभा है॥ १०७॥ जलमें, स्थलमें, पर्वतशिखरोंमें और ज्वालामालाओंमें सर्वत्र विष्णु विराजमान हैं, समस्त जगत् विष्णुमय है॥ १०८॥ ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और मरुद्गण जिनका दिव्य स्तोत्रोंसे स्तवन करते हैं, सामगान करनेवाले लोग अङ्ग, पद, क्रम और उपनिषदोंके सहित वेदोंसे जिनका गान करते हैं, ध्यानमग्न एवं तल्लीनचित्तसे योगी जिनका साक्षात्कार करते हैं और जिनका पार सुर और असुर कोई भी नहीं पाते, उन भगवान्को नमस्कार है॥ १०९॥ कोई-कोई अपने देहके भीतर चित्ताकाशमें विराजमान प्रादेशमात्र (बित्ताभरके) चतुर्भुज पुरुषको, जो शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए हैं, धारणाद्वारा स्मरण करते हैं॥ ११०॥ जो प्रसन्नवदन हैं, कमलके समान विशाल लोचन हैं, कदम्बकेसरके सदृश पीताम्बर ओढ़े हुए हैं, जिनके रत्नखचित स्वर्णमय भुजबन्द सुशोभित हैं तथा बहुमूल्य रत्नमय किरीट और कुण्डल देदीप्यमान हो रहे हैं,

* ब्रह्माण्डपुराणे विष्णुपञ्जरस्तोत्रात्।

† श्रीमद्भा० १२।१३।१; २।२।८-९।

१ पाठान्तरम्—हृदोऽवकाशे।

उन्निद्रहृत्पङ्कजकर्णिकालये योगेश्वरास्थापितपादपल्लवम्।
श्रीलक्ष्मणं कौस्तुभरत्नकन्धरमम्लानलक्ष्म्या वनमालयाञ्चितम्॥ ११२॥*
विभूषितं मेखलयाङ्गुलीयकैर्महाधनैर्नूपुरकङ्कणादिभिः।
स्निग्धामलाकुञ्चितनीलकुन्तलैर्विरोचमानाननहासपेशलम् ॥ ११३॥*
अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद्भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहम् ।
ईक्षेत चिन्तामयमेनमीश्वरं यावन्मनो धारणयावतिष्ठते॥ ११४॥*
प्रसादाभिमुखं शश्वत्प्रसन्नवदनेक्षणम्।
सुनासं सुभ्रुवं चारुकपोलं सुरसुन्दरम्॥ ११५॥*
तरुणं रमणीयाङ्गमरुणोष्ठेक्षाणाधरम्।
प्रणताश्रयणं नृम्णं शरण्यं करुणार्णवम्॥ ११६॥*
श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं पुरुषं वनमालिनम्।
शङ्खचक्रगदापद्मैरभिव्यक्तचतुर्भुजम् ॥ ११७॥*
किरीटिनं कुण्डलिनं केयूरवनमालिनम्।
कौस्तुभाभरणग्रीवं पीतकौशेयवाससम्॥ ११८॥*

जिनके चरण-कमलोंको योगीश्वरोंने अपने हृदयरूप खिले हुए कमलकोषमें स्थापित कर रखा है, जो श्रीवत्सचिह्नको धारण किये रहते हैं, कौस्तुभमणिसे जिनकी ग्रीवा सुशोभित हो रही है और जो अमन्द कान्तिमयी वनमालासे सुशोभित होते हैं॥ १११-११२॥ जो मेखला, अङ्गुलीय (अँगूठी), महामूल्य नूपुर और कङ्कणादिसे विभूषित हैं, अत्यन्त चिकने, स्वच्छ, घुँघराले, काले-काले बालोंसे जिनका मन्द मुसकानयुक्त मधुर मुख शोभा पा रहा है॥ ११३॥ उदार लीलामयी मुसकान और चितवनके द्वारा उल्लसित भ्रूभङ्गीसे जिनका भारी अनुग्रह सूचित हो रहा है, ऐसे ध्यानमय प्रभुको तबतक देखते रहना चाहिये, जबतक धारणाके द्वारा चित्त स्थिर न हो॥ ११४॥ जो सदा कृपा करनेको उद्यत रहते हैं, प्रसन्नमुख और प्रसन्ननयन हैं, जिनकी नासिका, भौंहें और कपोल अतिसुन्दर हैं और समस्त देवताओंमें जो मनोहर हैं॥ ११५॥ जो तरुण हैं, कमनीयकलेवर हैं, जिनके ओष्ठ, अधर और नेत्र अरुण हैं, जो शीश झुकानेवालोंको आश्रय देनेवाले, अपार सुखदायक, शरणागतवत्सल और करुणाके सागर हैं॥ ११६॥ जिनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न है, जो घनश्याम हैं, परमपुरुष हैं, वनमालाधारी हैं, शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मयुक्त जिनकी चार भुजाएँ हैं॥ ११७॥ जिन्होंने किरीट, कुण्डल, केयूर, वनमाला, गलेमें कौस्तुभमणिरूप आभूषण तथा रेशमी पीताम्बर धारण कर रखा है॥ ११८॥

* श्रीमद्भा० २। २। १०, ११, १२; ४। ८। ४५—४८।

काञ्चीकलापपर्यस्तं लसत्काञ्चननूपुरम्।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम्॥ ११९॥*
पद्भ्यां नखमणिश्रेण्या विलसद्भ्यां समर्चताम्।
हृत्पद्मकर्णिकाधिष्ण्यमाक्रम्यात्मन्यवस्थितम् ॥ १२०॥*
स्मयमानमभिध्यायेत्सानुरागावलोकनम् ।
नियतेनैकभूतेन मनसा वरदर्षभम्॥ १२१॥*
महामरकतश्यामं श्रीमद्वदनपङ्कजम्।
कम्बुग्रीवं महोरस्कं सुनासं सुन्दरभ्रुवम्॥ १२२॥*
श्वासैजदलकाभातं कम्बुश्रीकर्णदाडिमम्।
विद्रुमाधरभासेषच्छोणायितसुधास्मितम् ॥ १२३॥*
पद्मगर्भारुणापाङ्गं हृद्यहासावलोकनम्।
श्वासैजद्बलिसंविग्ननिम्ननाभिदलोदरम् ॥ १२४॥*
चार्वङ्गुलिभ्यां पाणिभ्यामुन्नीय चरणाम्बुजम्।
मुखे निधाय विप्रेन्द्रो धयन्तं वीक्ष्य विस्मितः॥ १२५॥*

जो काञ्चीकलाप (करधनी) से परिवेष्टित हैं और जिनके सुवर्णमय नूपुर सुशोभित हैं तथा जो अतिशय दर्शनीय, शान्त, मनोरम एवं नयनानन्दवर्धन हैं॥ ११९॥ जो नखरूप मणिमालासे शोभायमान चरणोंद्वारा अपनी पूजा करनेवाले भक्तोंके हृदय-पुण्डरीकके स्थानको आक्रान्त कर उनके चित्तमें विराजमान हैं॥ १२०॥ उन अनुरागभरी दृष्टिवाले, हँसमुख, वरदायक भगवान्‌का संयमपूर्वक एकाग्रचित्तसे ध्यान करे॥ १२१॥ जो महान् मरकतमणिके समान श्यामवर्ण हैं, जिनका कमलके समान मुख शोभायमान है, जिनकी ग्रीवा शङ्खके समान, वक्षःस्थल विशाल और नासिका तथा भौंहें सुन्दर हैं। जो वायुसे हिलती हुई अलकोंसे सुशोभित हैं, जिनके शङ्खसदृश कानोंमें दाडिमके फूल हैं, मूँगेके समान अरुण अधरोंकी कान्तिसे जिनकी सुधामयी मुसकान कुछ लालिमा-सी लिये हुए है॥ १२२-१२३॥ कमलके भीतरी भागके समान अरुण जिनके नेत्रोंके कोने हैं, जिनके हास्य और अवलोकन अति हृदयहारी हैं और श्वास लेते समय जिनका त्रिवलीयुक्त तथा नीची नाभिवाला उदरदेश कम्पायमान हो रहा है॥ १२४॥ ऐसे बालरूप भगवान्‌को सुन्दर अङ्गुलियोंवाले दोनों हाथोंसे अपने चरणकमलको खींचकर मुखमें देकर पीते हुए देखकर द्विजवर मार्कण्डेयको बड़ा आश्चर्य हुआ!॥ १२५॥

* श्रीमद्भा० ४।८।४९—५१; १२।९।२२, २३, २४, २५।

भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः।
दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः॥ १२६॥*
तस्मात्सर्वात्मना राजन्हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम्॥ १२७॥*
यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥ १२८॥*
तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥ १२९॥*
किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खशादयः।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥ १३०॥*
ग्राहग्रस्ते गजेन्द्रे रुदति सरभसं तार्क्ष्यमारुह्य धावन्
व्याघूर्णन् माल्यभूषावसनपरिकरो मेघगम्भीरघोषः।
आबिभ्राणो रथाङ्गं शरमसिमभयं शङ्खचापौ सखेटौ
हस्तैः कौमोदकीमप्यवतु हरिरसावंहसां संहतेर्नः॥ १३१॥

बुद्धि आदि दृश्यरूप अनुमान करनेवाले लक्षणोंके द्वारा, द्रष्टा भगवान् समस्त प्राणियोंमें आत्मरूपसे लक्षित होते हैं॥ १२६॥ अतः हे राजन्! भगवान् हरि मनुष्योंके द्वारा सर्वथा सर्वत्र सर्वदा श्रवणीय, कीर्तनीय और स्मरणीय हैं॥ १२७॥ उन कल्याणकीर्ति भगवान्को नमस्कार है, जिनका कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण और पूजन लोकके उत्कट पापोंका भी शीघ्र ध्वंस कर देता है॥ १२८॥ जिनको अर्पण किये बिना मङ्गलमय तपस्वी, दानी, यशस्वी, मनस्वी और मन्त्रवेत्ता किसी सुखको नहीं प्राप्त कर सकते, उन कल्याणकीर्ति भगवान्को नमस्कार है॥ १२९॥ किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन और खश तथा अन्य पापीजन भी जिनके आश्रयसे शुद्ध हो जाते हैं, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है॥ १३०॥ ग्राहसे ग्रस्त होकर गजेन्द्रके रोनेपर हाथोंमें चक्र, शर, तलवार, अभय, शङ्ख, चाप, भाला और कौमोदकी गदा धारण करके मेघकी-सी गम्भीर गर्जना करते हुए जो गरुड़पर चढ़कर शीघ्रतासे दौड़ पड़े और उस समय उतावालीके कारण जिनके हार, भूषण, कमरबन्द आदि तितर-बितर हो गये थे, वे भगवान् विष्णु हमारी पापसमूहसे रक्षा करें॥ १३१॥

---

* श्रीमद्भा० २। २। ३५-३६; २। ४। १५, १७-१८। २। ४।

नक्राक्रान्ते करीन्द्रे मुकुलितनयने मूलमूलेति खिन्ने
नाहं नाहं न चाहं न च भवति पुनर्मादृशस्त्वादृशेषु।
इत्येवं त्यक्तहस्ते सपदि सुरगणे भावशून्ये समस्ते
मूलं यत्प्रादुरासीत्स दिशतु भगवान् मङ्गलं सन्ततं नः॥ १३२॥
यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥ १३३॥*
यत्र निर्लिप्तभावेन संसारे वर्तते गृही।
धर्मं चरति निष्कामं तत्रैव रमते हरिः॥ १३४॥†
लोकं शोकहतं वीक्ष्य हाहाकारसमाकुलम्।
अशोकं भज रे चेतस्तद्विष्णोः परमं पदम्॥ १३५॥†
जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचना
गतिः प्रादक्षिण्यक्रमणमदनान्याहुतविधिः।
प्रणामः संवेशः सकलमिदमात्मार्पणविधौ
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्॥ १३६॥‡

जब गजेन्द्र ग्राहके द्वारा आक्रान्त हो आँखें मीचकर दुखी हो 'हे विश्वके मूलाधार! [मेरी रक्षा करो]' इस प्रकार पुकारने लगा, उस समय 'तुम्हारे-जैसे महाविपन्नोंकी रक्षा करनेको मैं नहीं! मैं भी नहीं!! और मैं भी नहीं समर्थ हूँ, ऐसा कहकर सहसा सब देवता हाथ छुड़ाकर भावशून्य हो गये, तब जो सर्वमूलाधार प्रकट हुआ वह हरि हमारा निरन्तर मङ्गल करे॥ १३२॥ शैव जिसकी शिवरूपसे उपासना करते हैं, वेदान्ती ब्रह्मरूपसे, बौद्ध बुद्धरूपसे और प्रमाणकुशल नैयायिक जिसको कर्ता मानकर पूजते हैं, जैन जिन्हें अर्हत और मीमांसक कर्म बतलाते हैं, वह त्रैलोक्याधिपति भगवान् हमको वाञ्छित फल प्रदान करें॥ १३३॥ जहाँ गृहस्थ पुरुष संसारमें निर्लिप्तभावसे रहता हुआ धर्माचरण करता है, वहीं श्रीहरि विहार करते हैं॥ १३४॥ हे चित्त! इस लोकको शोकसन्तप्त और हाहाकारसे व्याकुल देखकर, भगवान् विष्णुके उस शोकहीन परमपदको भज॥ १३५॥ हे भगवन्! मेरा बोलना आपका जप हो, सब प्रकारकी शिल्प (हाथकी कारीगरी) मुद्रा-रचना हो, चलना-फिरना प्रदक्षिणा हो; भोजन करना हवनक्रिया हो और शयन करना प्रणाम हो; इस प्रकार मेरी सभी चेष्टाएँ आत्मार्पणविधिमें आपकी पूजारूप ही हों॥ १३६॥

---

* श्रीहनुमन्नाटकात्। † श्रीताराकुमारस्य। ‡ श्रीशङ्कराचार्यस्य।

श्रीलक्ष्मीसूक्तिः

श्रुत्यै नमोऽस्तु शुभकर्मफलप्रसूत्यै
रत्यै नमोऽस्तु रमणीयगुणाश्रयायै।
शक्त्यै नमोऽस्तु शतपत्रनिकेतनायै
पुष्ट्यै नमोऽस्तु पुरुषोत्तमवल्लभायै॥ १३७॥*

मम न भजनभक्तिः पादयोस्ते न रक्ति-
र्न च विषयविरक्तिर्ध्यानयोगेन शक्तिः।
इति मनसि सदाहं चिन्तयन्नाद्यशक्ते
रुचिरवचनपुष्पैरर्चनं संचिनोमि॥ १३८॥†

सरसिजनिलये सरोजहस्ते धवलतरांशुकगन्धमाल्यशोभे।
भगवति हरिवल्लभे मनोज्ञे त्रिभुवनभूतिकरिप्रसीद मह्यम्॥ १३९॥‡

विष्णुपत्नीं क्षमां देवीं माधवीं माधवप्रियाम्।
विष्णुप्रियसखीं देवीं नमाम्यच्युतवल्लभाम्॥ १४०॥‡

यज्ञादि शुभ कर्मोंके फलको प्रकट करनेवाली श्रुतिरूपिणी, सुन्दर गुणोंकी आश्रयभूता रतिरूपिणी, कमलवासिनी शक्तिरूपिणी और पुरुषोत्तम विष्णुकी प्रियतमा पुष्टिरूपिणी लक्ष्मीको बारम्बार नमस्कार करता हूँ॥ १३७॥ हे आदिशक्ते! मुझमें न आपका भजन है, न भक्ति है, न आपके चरणोंमें प्रेम है, न विषयोंसे वैराग्य है और न ध्यानकी शक्ति ही है—मनमें यह सोचकर मैं सदा मधुर वचनरूपी पुष्पोंसे ही आपकी पूजा करता हूँ॥ १३८॥ कमल ही जिनके निवासस्थान हैं, जिन्होंने हाथोंमें कमल धारण किया है, जो अत्यन्त उज्ज्वल वस्त्र और गन्धमाल्यादिसे सुशोभित हैं, ऐसी हे त्रिलोकीको ऐश्वर्य प्रदान करनेवाली सुन्दरी भगवती हरिप्रिये! तुम मेरे प्रति प्रसन्न होओ॥ १३९॥ विष्णुकी पत्नी, क्षमास्वरूपिणी, माधवप्रिया, विष्णुकी प्रियसखी और अच्युतकी प्रेयसी भगवती माधवीको नमस्कार करता हूँ॥ १४०॥

---

* स्वा० शङ्कराचार्यस्य कनकधारास्तवात्।

† स्वामिनः शङ्कराचार्यस्य भगवतीमानसपूजास्तोत्रात्।

‡ श्रीसू०।

सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते॥ १४१॥*

चतुर्थोल्लास

श्रीरामसूक्तिः

सर्वाधिपत्यं समरे गभीरं सत्यं चिदानन्दमयस्वरूपम्।
सत्यं शिवं शान्तिमयं शरण्यं सनातनं राममहं भजामि॥ १॥†

वन्दे शारदपूर्णचन्द्रवदनं वन्दे कृपाम्भोनिधिं
वन्दे शम्भुपिनाकखण्डनकरं वन्दे स्वभक्तप्रियम्।
वन्दे लक्ष्मणसंयुतं रघुवरं भूपालचूडामणिं
वन्दे ब्रह्म परात्परं गुणमयं श्रेयस्करं शाश्वतम्॥ २॥‡

चिदाकारो धाता परमसुखदः पावनतनु-
र्मुनीन्द्रैर्योगीन्द्रैर्यतिपतिसुरेन्द्रैर्हनुमता।
सदा सेव्यः पूर्णो जनकतनयाङ्गः सुरगुरू
रमानाथो रामो रमतु मम चित्ते तु सततम्॥ ३॥$

सर्वमङ्गल-कार्योंको मङ्गलरूपी बनानेवाली, कल्याणमयी, सर्वकामनाओंको पूर्ण करनेवाली, शरणागतकी रक्षा करनेवाली, त्रिनेत्रधारिणी, गौराङ्गी, हे नारायणपत्नि! आपको नमस्कार है॥ १४१॥

सबके स्वामी, युद्धकुशल, सच्चिदानन्दमयरूप, सर्वदा सत्य, कल्याणमूर्ति, शान्तिमय, शरणागतवत्सल एवं सनातन रामको मैं भजता हूँ॥ १॥ जिनका शरत्कालीन चन्द्रके समान मुखकमल है, जो दयासागर, शिवके धनुषको तोड़नेवाले, अपने भक्तोंके प्यारे, राजाओंके शिरोमणि, परब्रह्मस्वरूप, महान्-से-महान् त्रिगुणमय और कल्याण करनेवाले हैं; लक्ष्मणके सहित उन सनातन पुरुष श्रीरघुनाथकी मैं बारम्बार वन्दना करता हूँ॥ २॥ बड़े-बड़े मुनियों, योगिराजों, यतिवरों, देवेश्वरों और हनुमान्‌जीसे सदा सेव्य, चित्स्वरूप, लोकपालक, परमानन्ददाता, पवित्र शरीरवाले, पूर्णस्वरूप, देवगुरु, जानकीवल्लभ रमापति राम मेरे चित्तमें सदा रमण करें॥ ३॥

---

* मार्कण्डेयपुराणात्। † सनत्कुमारसंहितायां रामस्तवराजस्तोत्रात्।
‡ पं० श्रीजयदेवस्य रामगीतगोविन्दात्। $ कवेरमरदासस्य रामचन्द्राष्टकस्तोत्रात्।

श्रीरामतो मध्यमतोदि यो न धीरोऽनिशं वश्यवतीवराद्धा।
द्वारावती वश्यवशं निरोधी नयोदितो मध्यमतोमरा श्रीः॥ ४॥*
आसुरं कुलमनादरणीयं चित्तमेतदमलीकरणीयम्।
रामधाम शरणीकरणीयं लीलया भवजलं तरणीयम्॥ ५॥
अहो विचित्रं तव राम चेष्टितं मनुष्यभावेन विमोहितं जगत्।
चलस्यजस्त्रं चरणादिवर्जितः सम्पूर्ण आनन्दमयोऽतिमायिकः॥ ६॥†
यत्पादपङ्कजपरागपवित्रगात्रा
भागीरथी भवविरञ्चिमुखान्पुनाति।
साक्षात्स एव मम दृग्विषयो यदास्ते
किं वर्ण्यते मम पुराकृतभागधेयम्॥ ७॥†
मर्त्यावतारे मनुजाकृतिं हरिं रामाभिधेयं रमणीयदेहिनम्।
धनुर्धरं पद्मविशाललोचनं भजामि नित्यं न परान्भजिष्ये॥ ८॥†
यत्पादपङ्कजरजः श्रुतिभिर्विमृग्यं
यन्नाभिपङ्कजभवः कमलासनश्च।

जिसने सीतापति रामचन्द्रके और अपने बीचमें प्रकटित प्रपञ्चको विलीन कर दिया है अथवा चित्तको संसारसे हटाकर द्वारिकावासी कृष्णमें निरोध कर दिया है, वही धीर है; क्योंकि इसीसे मोक्ष-लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है॥ ४॥ दुष्ट जनोंकी उपेक्षा करनी चाहिये, उस चित्तको निर्मल करना चाहिये, रामके प्रभावकी शरण लेनी चाहिये; इस प्रकार अनायास ही भवसागरको पार करना चाहिये॥ ५॥ [अहल्या कहती है] हे राम! आपकी लीला विचित्र है, संसार आपको मनुष्य समझकर मोहित हो रहा है; आप पूर्ण आनन्दमय और अत्यन्त मायावी हैं; क्योंकि चरणादिसे रहित होकर भी सदा चलते रहते हैं॥ ६॥ जिनके चरण-कमलोंकी धूलिसे पवित्र अङ्गवाली गङ्गा, शिव-ब्रह्मादिको पवित्र करती है, साक्षात् वही राम मेरी आँखोंके सामने उपस्थित हैं, इसलिये मेरे पूर्वसञ्चित सौभाग्यका क्या वर्णन किया जाय?॥ ७॥ मर्त्यलोकके अवतारोंमें मनुष्यका रूप धारण करनेवाले, सुन्दर शरीरवाले, धनुषधारी, कमलके समान विशाल नेत्रवाले, राम-नामधारी हरिका ही मैं नित्य भजन करूँगी, दूसरोंका नहीं॥ ८॥ श्रुतियोंद्वारा जिनके चरणकमलकी रज ढूँढ़ी जाती है, जिनके नाभि-कमलसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं,

* दैवज्ञपण्डितसूर्यस्य रामकृष्णविलोमकाव्यात्। † अध्यात्मरामायणे १।५।४४, ४५, ४६।

यन्नामसाररसिको भगवान्पुरारि-
स्तं रामचन्द्रमनिशं हृदि भावयामि॥ ९॥*

भक्तिर्मुक्तिविधायिनी भगवतः श्रीरामचन्द्रस्य हे
लोकाः कामदुघाङ्घ्रिपद्मयुगलं सेवध्वमत्युत्सुकाः।
नानाज्ञानविशेषमन्त्रविततिं त्यक्त्वा सुदूरे भृशं
रामं श्यामतनुं स्मरारिहृदये भान्तं भजध्वं बुधाः॥ १०॥*

तव दासस्य दासानां शतसंख्योत्तरस्य वा।
दासीत्वे नाधिकारोऽस्ति कुतः साक्षात्तवैव हि॥ ११॥*

जानन्तु राम तव रूपमशेषदेश-
कालाद्युपाधिरहितं घनचित्प्रकाशम्।
प्रत्यक्षतोऽद्य मम गोचरमेतदेव
रूपं विभातु हृदये न परं विकाङ्क्षे॥ १२॥*

त्वत्पादपद्मार्पितचित्तवृत्तिस्त्वन्नामसङ्गीतकथासु वाणी।
त्वद्भक्तसेवानिरतौ करौ मे त्वदङ्गसङ्गं लभतां मदङ्गम्॥ १३॥*

भगवान् शङ्कर जिनके नाम-तत्त्वके प्रेमी हैं, उन श्रीरामचन्द्रकी मैं सदा हृदयमें भावना करती हूँ॥ ९॥ हे लोगो! भगवान् रामकी भक्ति मुक्ति देनेवाली है, इसलिये कामधेनुके समान उनके चरणारविन्दकी उत्कण्ठापूर्वक सेवा करो, हे विद्वानो! नाना प्रकारके ज्ञान और मन्त्रोंके प्रपञ्चको दूरसे ही त्यागकर, महादेवजीके हृदयमें प्रकाशित होनेवाले श्यामशरीर रामका बारम्बार भजन करो॥ १०॥ [शबरीने कहा—] हे राम! मेरा तो आपके दासके दासोंमें सैकड़ोंके पीछे भी आपकी दासताका अधिकार नहीं है; भला साक्षात् आपकी दासी तो हो ही कैसे सकती हूँ?॥ ११॥ हे राम! अनन्त देश और काल आदिकी उपाधिसे रहित आपके चिदानन्दघनरूपको कुछ लोग भले ही जाना करें, पर मेरे हृदयमें आज जिसका प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है आपका यही सगुणरूप प्रकाशित हो, मैं औरकी आकाङ्क्षा नहीं करता॥ १२॥ मेरी चित्तवृत्ति आपके चरणकमलोंमें लगे, वाणी आपके नामसंकीर्तन तथा कथा-वार्तामें लगे, हाथ आपके भक्तोंकी सेवामें लगे रहें और मेरे अङ्ग आपके अङ्गोंका सङ्ग प्राप्त करें॥ १३॥

---

* अध्या० रा० १।५।४७; ३।१०।४४, १८; ३।२।३४; ४।१।९१।

त्वन्मूर्तिभक्तान् स्वगुरुं च चक्षुः पश्यत्वजस्रं स शृणोतु कर्णः।
त्वज्जन्मकर्माणि च पादयुग्मं व्रजत्वजस्रं तव मन्दिराणि॥ १४॥*
अहं भवन्नाम गृणन् कृतार्थो वसामि काश्यामनिशं भवान्या।
मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मन्त्रं तव रामनाम॥ १५॥*
नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥ १६॥†
कोशलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ।
जानकीकरसरोजलालितौ चिन्तकस्य मनभृङ्गसङ्गिनौ॥ १७॥†
ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनं चाव्ययं
श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुन्दरवरं संशोभितं सर्वदा।
संसारामयभेषजं सुमधुरं श्रीजानकीजीवनं
धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्॥ १८॥†

हे भगवन्! मेरे नेत्र आपके स्वरूप और आपके भक्तोंको तथा अपने गुरुदेवको देखा करें, कान आपके जन्म और कर्मकी लीलाओंको सदा सुनें तथा पैर सदा आपके मन्दिर और तीर्थोंमें भ्रमण करें॥ १४॥ [शिवजीने कहा—हे राम!] मैं आपका नाम जपता हुआ कृतार्थ होकर, पार्वतीके साथ सर्वदा काशीमें निवास करता हूँ और मरते हुए लोगोंको मुक्तिके लिये, आपके राम-नामरूपी तारक-मन्त्रका उपदेश करता रहता हूँ॥ १५॥ हे रघुनाथ! मेरे हृदयमें दूसरी अभिलाषा नहीं है, मैं आपसे सत्य कह रहा हूँ, क्योंकि आप सबके अन्तरात्मा हैं। हे रघुश्रेष्ठ! मुझे पूर्ण भक्ति दें और मेरे चित्तको काम आदि दोषोंसे रहित कर दें॥ १६॥ कोशलेन्द्र भगवान् रामचन्द्रजीके सुन्दर चरणरूपी कमल कोमल हैं, ब्रह्मा और शिव उनकी वन्दना करते हैं, जानकीजीके करकमलोंसे उनकी सेवा होती है और भक्तोंके मनरूपी भौंरे, उनपर लुभाये रहते हैं॥ १७॥ जो ब्रह्मरूपी समुद्रसे उत्पन्न हुआ है, कलिकल्मषका ध्वंस करनेवाला है, अव्यय है, सदा श्रीमहादेवजीके सुन्दर मुखचन्द्रमें सुशोभित है और संसाररूपी रोगकी महौषधि है, अत्यन्त मधुर है तथा श्रीजानकीजीका जीवनाधार है, उस राम-नामरूपी अमृतका जो निरन्तर पान करते हैं, वे सुकृतीजन धन्य हैं॥ १८॥

* अध्या० रा० ४। १। ९२; ६। १५। ६२।

† श्रीतुलसीदासस्य रामचरितमानसे ५। २; ७। २; ४। २।

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम्।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम्॥ १९॥*
सान्द्रानन्दपयोदसौभगतनुं पीताम्बरं सुन्दरं
पाणौ बाणशरासनं कटिलसत्तूणीरभारं वरम्।
राजीवायतलोचनं धृतजटाजूटेन संशोभितं
सीतालक्ष्मणसंयुतं पथि गतं रामाभिरामं भजे॥ २०॥*
केकीकण्ठाभनीलं सुरवरविलसद्विप्रपादाब्जचिह्नं
शोभाढ्यं पीतवस्त्रं सरसिजनयनं सर्वदा सुप्रसन्नम्।
पाणौ नाराचचापं कपिनिकरयुतं बन्धुना सेव्यमानं
नौमीड्यं जानकीशं रघुवरमनिशं पुष्पकारूढरामम्॥ २१॥*
ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ २२॥†

जिनका नील कमलके समान अतिसुन्दर श्यामशरीर है, जिन्होंने वाम भागमें श्रीसीताजीको बिठा रखा है तथा जिनके हाथोंमें महान् धनुष और सुन्दर बाण हैं, उन रघुवंशनाथ श्रीरामको प्रणाम करता हूँ॥ १९॥ स्निग्ध आनन्दपयोदके सदृश जिनका मनोहर शरीर है, जो सुन्दर हैं, पीताम्बर धारण किये हुए हैं, जिनके हाथोंमें धनुष-बाण और कमरमें सुन्दर तरकस सुशोभित है; जिनके कमलके समान विशाल नेत्र हैं, जो जटाजूट धारण किये शोभायमान हैं, सीता और लक्ष्मणके सहित वनके पथपर चल रहे हैं, उन अति अभिराम रामको भजता हूँ॥ २०॥ मयूरकण्ठके समान जिनका नील शरीर है, जो देवेश्वर हैं, जिनके वक्ष:स्थलमें विप्रवर भृगुका चरणचिह्न सुशोभित है, जो शोभा शाली हैं, जिनके पीत वस्त्र हैं, कमल-जैसे नेत्र हैं, जो सदा प्रसन्न हैं, जिनके करकमलोंमें धनुष और बाण हैं जो वानरोंकी सेनासे घिरे हुए और श्रीलक्ष्मणजीसे सेवित हैं; उन परमस्तुत्य पुष्पकारूढ, जानकीनाथ रघुनाथजीको नमस्कार है॥ २१॥ हे शरणागतरक्षक महापुरुष! आपके उन चरणारविन्दोंको नमस्कार है, जो सदा ध्यान करनेके योग्य, अनिष्ट दूर करनेवाले एवं इच्छित फलदायक हैं, तीर्थोंके असाधारणरूप हैं, शिवब्रह्मादिसे वन्दित हैं, शरणागतवत्सल हैं, अपने दासोंका दु:ख दूर करनेवाले तथा संसारसागरके लिये नौकारूप हैं॥ २२॥

* श्रीतुलसीदासस्य रामचरितमानसे ५। ३, ३। २, ७। १।
† श्रीमद्भा० ११। ५। ३३।

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ २३॥*

पेयं पेयं श्रवणपुटके रामनामाभिरामं
ध्येयं ध्येयं मनसि सततं तारकं ब्रह्मरूपम्।
जल्पञ्जल्पन् प्रकृतिविकृतौ प्राणिनां कर्णमूले
वीथ्यां वीथ्यामटति जटिलः कोऽपि काशीनिवासी॥ २४॥†

इदं शरीरं शतसन्धिजर्जरं पतत्यवश्यं परिणामि पेशलम्।
किमौषधैः क्लिश्यसि मूढदुर्मते निरामयं रामरसायनं पिब॥ २५॥

कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य।
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम॥ २६॥‡

हे धर्मात्मन् महापुरुष! मैं आपके उन चरणारविन्दोंको नमस्कार करता हूँ, जो दुस्त्यज और देवताओंद्वारा वाञ्छित राजलक्ष्मीको पिताकी आज्ञासे छोड़कर वनको चले गये और प्रिया सीताद्वारा इच्छित मायामृगके पीछे दौड़े॥ २३॥ कानोंसे सदा मनोहर राम-नामका श्रवण करो और मनमें सदा तारक ब्रह्मका ध्यान करो, इस प्रकार प्राकृतशरीरके विनाशकालमें प्रत्येक स्त्री-पुरुषके कानोंमें कहते हुए, कोई काशीनिवासी जटाधारी (शङ्कर) वहाँकी गली-गलीमें चक्कर लगा रहा है॥ २४॥ यह सैकड़ों सन्धियोंसे जर्जरित, परिणामी और कोमल देह अवश्य नष्ट हो जायगा, फिर हे मूढ! हे दुर्बुद्धे! ओषधियोंके पचड़ेमें क्यों पड़ा है? निरामय राम-रसायनका ही पान कर॥ २५॥ जो कल्याणोंका निधान है, कलिमलको मथन करनेवाला है, पावनको भी पावन बनानेवाला है, परमपदकी प्राप्तिके लिये प्रस्थान करनेवाले मुमुक्ष पुरुषोंका पाथेय है, कवियोंकी वाणीका जो एकमात्र विश्रामस्थान और सत्पुरुषोंका जीवनस्वरूप है; ऐसा धर्मवृक्षका बीजरूप राम-नाम आपके ऐश्वर्यका साधक हो॥ २६॥

---

* श्रीमद्भा० ११।५।३४।

† स्कन्दपुराणे काशीखण्डे। ‡ ईश्वरपुरिस्वामिनः 'भवभूतेः' इति केचित्।

अहल्या पाषाणः प्रकृतिपशुरासीत् कपिचमू-
गुंहोऽभूच्चाण्डालस्त्रितयमपि नीतं निजपदम्।
अहं चित्तेनाश्मा पशुरपि तवार्चादिकरणे
क्रियाभिश्चाण्डालो रघुवर न मामुद्धरसि किम्॥ २७॥*

वामे भागे जनकतनया राजते यस्य नित्यं
भ्रातृप्रेमप्रवणहृदयो लक्ष्मणो दक्षिणे च।
पादाम्भोजे पवनतनयः श्रीमुखे बद्धनेत्रः
साक्षाद्ब्रह्म प्रणतवरदं रामचन्द्रं भजे तम्॥ २८॥†

आदौ रामतपोवनादिगमनं हत्वा मृगं काञ्चनं
वैदेहीहरणं जटायुमरणं सुग्रीवसम्भाषणम्।
वालीनिग्रहणं समुद्रतरणं लङ्कापुरीदाहनं
पश्चाद्रावणकुम्भकर्णहननं चैतद्धि रामायणम्॥ २९॥‡

हे राम! अहल्या पाषाण थी, वानरसेना स्वभावसे ही पशु थी और गुह चाण्डाल था; पर आपने इन तीनोंको ही अपने परमधामकी प्राप्ति करायी; मैं भी अपने चित्तसे तो पाषाण हूँ, आपकी पूजा-अर्चा आदि करनेमें पशु हूँ और अपने कर्मोंसे चाण्डाल हूँ, तो भी हे रघुवर! आप मेरा उद्धार क्यों नहीं करते॥ २७॥ जिनके वामभागमें नित्य श्रीजानकीजी विराजती हैं, दायें भागमें, जिनका हृदय भ्रातृ-प्रेममें सना हुआ है वे श्रीलक्ष्मणजी सुशोभित हैं और जिनके चरणकमलोंके पास पवनपुत्र श्रीहनुमान्जी श्रीमुखमें एकटक दृष्टि लगाये हुए बैठे हैं; उन मूर्तिमान् ब्रह्म, भक्तवरदायक रघुनायककी मैं स्तुति करता हूँ॥ २८॥ प्रथम श्रीरामचन्द्रजीका तपोवनादिमें जाना फिर कनकमृग मारीचका मारा जाना, तदुपरान्त सीताजीका हरण, जटायुका मरण, सुग्रीवसे वार्तालाप, वालीका वध, समुद्रोल्लङ्घन, लङ्काका दाह और सबके पश्चात् रावण-कुम्भकर्णादिका मारा जाना—बस, इतनी ही रामायण है॥ २९॥

---

* रहीमकवेः।

† श्रीपूर्णचन्द्रस्योद्भटसागरतः।

‡ श्रीमदग्निवेशस्य मूलरामायणे। अत्र 'हेम्नो रुरोर्मारणम्' 'बालीनिर्दलनम्' 'पौलस्त्यस्य वधो जयो रघुपतेश्चैतद्धि रामायणम्' इति पुस्तकान्तरे पाठभेदाः।

कदा वा साकेते विमलसरयूतीरपुलिने
चरन्तं श्रीरामं जनकतनयालक्ष्मणयुतम्।
अये राम स्वामिञ्जनकतनयावल्लभ विभो
प्रसीदेत्याक्रोशन्निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्॥ ३०॥

रामनाम जपतां कुतो भयं सर्वतापशमनैकभेषजम्।
पश्य तात मम गात्रसन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना॥ ३१॥

रसने त्वं रसज्ञेति वृथैव स्तूयसे बुधैः।
अपारमाधुरीधामरामनामपराङ्मुखी॥ ३२॥

क्षालयामि तव पादपङ्कजे नाथ दारुदृषदोः किमन्तरम्।
मानुषीकरणचूर्णमस्ति ते पादयोरिति कथा प्रथीयसी॥ ३३॥

न्यायावधिः श्रीनिकायाकरस्त्रिभुवनायावताररसिक-
श्छायावधीरितकलाया वलिः कनकदायादपट्टवसनः।
जायास्पृहाजटिलमायातनू विहितकायाभिमानिचरितः
पायाददो जगदपायाददभ्रकरुणाया निधी रघुपतिः॥ ३४॥

साकेतलोक (अयोध्या) में सरयूके अति कमनीय कूलपर, श्रीजानकी और लक्ष्मणजीसहित टहलते हुए भगवान् श्रीरामसे 'हे राम! हे स्वामिन्! हे वैदेहीवल्लभ! हे विभो! प्रसन्न होइये'—ऐसा कहते हुए निमिषकी तरह दिनोंको कब बिताऊँगा?॥ ३०॥ [प्रह्लाद-] सम्पूर्ण तापोंकी एकमात्र ओषधि राम-नामको जपनेवालोंको कैसे भय हो सकता है? हे तात! (हिरण्यकशिपु) देखो, मेरे शरीरके पास आकर तो अब आग भी जलके समान शीतल हो रही है॥ ३१॥ हे रसने! तुझे रसज्ञा कहकर बुद्धिमान् व्यर्थ ही तेरी स्तुति करते हैं; क्योंकि तू अपार माधुर्यधाम राम-नामसे विमुख हो रही है॥ ३२॥ [भगवान् रामके नौकारूढ़ होनेके पूर्व नाविक बोला-] आपके चरणोंमें [पत्थरको] मनुष्य बना देनेवाली धूलि है, ऐसी बात प्रसिद्ध है और हे नाथ! लकड़ी और पत्थरमें क्या अन्तर है? अतः मैं आपके चरणकमल धोऊँगा॥ ३३॥ जो न्यायकी चरम सीमा, शोभा-समूहके आगार और त्रिभुवनको सुख पहुँचानेके निमित्त अवतार धारण करनेके रसिक हैं, जिन्होंने अपनी कान्तिसे चन्द्रमाको भी तिरस्कृत कर दिया है, जो सुनहले रंगके पीताम्बर धारण करते हैं, जिन्होंने मायामय शरीर धारणकर जटाधारी वेषमें अपनी स्त्री (सीता) के लिये अत्यन्त स्पृहा प्रकट करते हुए देहाभिमानी मनुष्योंके समान लीला की है वे अनन्त दयाके सागर श्रीरामचन्द्रजी इस जगत्की विनाशसे रक्षा करें॥ ३४॥

श्रीसीतासूक्तिः

पुण्यराशिरिव मैथिलप्रभो रामलोचनचकोरचन्द्रिका।
दीपितार्चिरिव रक्षसां सदा जानकी विजयतां यशोधना॥ ३५॥*

श्रीहनुमत्सूक्तिः

तीर्त्वा क्षारपयोनिधिं क्षणमथो गत्वा श्रियः सन्निधौ
दत्त्वा राघवमुद्रिकामपशुचं कृत्वा प्रविश्याटवीम्।
भङ्क्त्वाशेषतरून्निहत्य बहुशो रक्षोगणांस्तत्पुरीं
दग्ध्वाऽऽदाय मणिं रघूत्तममगाद्वीरो हनूमान्कपिः॥ ३६॥†

अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं
रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि॥ ३७॥‡

मिथिलेशके पुण्य-पुञ्ज-सी, श्रीरामचन्द्रजीके लोचन-चकोरोंको आनन्द देनेवाली चन्द्रिका-सी और राक्षसोंके लिये जलती हुई आगकी ज्वाला-सी, यशस्विनी जानकीजीकी जय हो॥ ३५॥

वीरश्रेष्ठ कपिवर हनुमान्‌जी क्षणमात्रमें ही समुद्रको लाँघ, सीताजीके पास पहुँच, उन्हें श्रीरामकी मुद्रिका अर्पण करके शोकरहित कर, फिर अशोकवनमें घुसकर सभी वृक्षोंको तोड़, बहुत-से राक्षसोंको मार तथा उनकी पुरी लङ्काको जला, सीताजीकी चूड़ामणि ले श्रीरामजीकी सेवामें आ पहुँचे॥ ३६॥ जो अतुलित बलके आगार, सुमेरुके समान शरीरवाले, दैत्यकुलरूप वनके लिये अग्निके समान, ज्ञानियोंमें अग्रगण्य, सर्वगुणसम्पन्न वानरोंके अधीश्वर और श्रीरघुनाथजीके श्रेष्ठ दूत हैं उन श्रीपवननन्दनको मैं प्रणाम करता हूँ॥ ३७॥

---

* पाण्डेयरामनारायणदत्तशास्त्रिणः।

† श्रीजयदेवस्य रामगीतगोविन्दात्।

‡ श्रीतुलसीदासस्य रामचरितमानसे—५। ३।

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम्।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम्॥ ३८॥*
कदा सीताशोकत्रिशिखजलदं चाञ्जनिसुतं
चिरञ्जीवं लोके भजकजनसंरक्षणकरम्।
अये वायोः सूनो रघुवरपदाम्भोजमधुप
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्॥ ३९॥*
देहदृष्ट्या तु दासोऽहं जीवदृष्ट्या त्वदंशकः।
वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥ ४०॥*
वीताखिलविषयेच्छं जातानन्दाश्रुपुलकमत्यच्छम्।
सीतापतिदूताद्यं वातात्मजमद्य भावये हृद्यम्॥ ४१॥*
तरुणारुणमुखकमलं करुणारसपूरपूरितापाङ्गम्।
संजीवनमाशासे मञ्जुलमहिमानमञ्जनाभाग्यम्॥ ४२॥

जो माता अञ्जनीके लाड़िले, अति वीर, श्रीजानकीजीका शोक दूर करनेवाले, अक्षयकुमारको मारनेवाले और लङ्काको भयभीत करनेवाले हैं, उन कपीश्वर (श्रीहनुमान्जी) की वन्दना करता हूँ॥ ३८॥ जो सीताकी शोकाग्निको बुझानेमें मेघसदृश हैं, उन भक्तजनोंकी रक्षा करनेवाले, चिरञ्जीवी, अञ्जनीनन्दन हनुमान्के प्रति 'हे पवननन्दन! हे रामके चरणारविन्दोंके भ्रमर! आप प्रसन्न होइये' इस प्रकार कहते हुए मैं अपने दिनोंको क्षणके समान कब बिताऊँगा?॥ ३९॥ (हनुमान्जीने कहा कि हे राम!) देहदृष्टिसे मैं आपका दास हूँ, जीवरूपसे आपका अंश हूँ तथा परमार्थदृष्टिसे तो आप और मैं एक ही हूँ, यह मेरा निश्चित मत है॥ ४०॥ जिनके हृदयसे समस्त विषयोंकी इच्छा दूर हो गयी है, [रामके प्रेममें विभोर हो जानेके कारण] जिनके नेत्रोंमें आनन्दके आँसू और शरीरमें रोमाञ्च हो रहे हैं, जो अत्यन्त निर्मल हैं, सीतापति रामचन्द्रजीके प्रधान दूत हैं, मेरे हृदयको प्रिय लगनेवाले उन पवनकुमार हनुमान्जीका मैं ध्यान करता हूँ॥ ४१॥ बाल रविके समान जिनका मुखकमल लाल है करुणारसके समूहसे जिनके लोचन-कोर भरे हुए हैं, जिनकी महिमा मनोहारिणी है, जो अञ्जनाके सौभाग्य हैं, जीवनदान देनेवाले उन हनुमान्जीसे मुझे बड़ी आशा है॥ ४२॥

---

* श्रीमदाद्यशङ्कराचार्यस्य हनुमत्पञ्चरत्नस्तोत्रात्।

शम्बरवैरिशरातिगमम्बुजदलविपुललोचनोदारम् ।
कम्बुगलमनिलदिष्टं विम्बज्वलितोष्ठमेकमवलम्बे ॥ ४३ ॥
दूरीकृतसीतार्तिः प्रकटीकृतरामवैभवस्फूर्तिः ।
दारितदशमुखकीर्तिः पुरतो मम भातु हनुमतो मूर्तिः ॥ ४४ ॥
वानरनिकराध्यक्षं दानवकुलकुमुदरविकरसदृशम् ।
दीनजनावनदीक्षं पवनतपः पाकपुञ्जमद्राक्षम् ॥ ४५ ॥
एतत्पवनसुतस्य स्तोत्रं यः पठति पञ्चरत्नाख्यम् ।
चिरमिह निखिलान्भोगान्भुक्त्वा श्रीरामभक्तिभाग्भवति ॥ ४६ ॥
(श्रीमदाद्यशङ्कराचार्यस्य हनुमत्पञ्चरत्नस्तोत्रात्)

जो कामदेवके बाणोंको जीत चुके हैं, जिनके कमलपत्रके समान विशाल एवं उदार लोचन हैं, जिनका शङ्खके समान कण्ठ और विम्बफलके समान अरुण ओष्ठ है, जो पवनके सौभाग्य हैं, एकमात्र उन हनुमान्‌जीकी ही मैं शरण लेता हूँ॥ ४३ ॥ जिन्होंने सीताजीका कष्ट दूर किया और श्रीरामचन्द्रजीके ऐश्वर्यकी स्फूर्तिको प्रकट किया, दशवदन रावणकी कीर्तिको मिटानेवाली वह हनुमान्‌जीकी मूर्ति मेरे सामने प्रकट हो॥ ४४ ॥ जो वानरसेनाके अध्यक्ष हैं, दानवकुलरूपी कुमुदोंके लिये सूर्यकी किरणोंके समान हैं, जिन्होंने दीनजनोंकी रक्षाका व्रत ले रखा है, पवनदेवकी तपस्याके परिणामपुञ्ज उन हनुमान्‌जीका मैंने दर्शन किया॥ ४५ ॥ पवनकुमार हनुमान्‌जीके इस पञ्चरत्ननामक स्तोत्रका जो पाठ करेगा वह इस लोकमें चिर-कालतक समस्त भोगोंको भोगकर श्रीराम-भक्तिका भागी होगा॥ ४६ ॥

पञ्चमोल्लास

श्रीकृष्णसूक्तिः

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥ १॥*
लावण्यामृतवन्यां मधुरिमलहरीपरीपाकः।
कारुण्यानां हृदये कपटकिशोरः परिस्फुरतु॥ २॥†
श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनरमणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति॥ ३॥‡
शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥ ४॥
प्रणयपटुपिपासापीडितानद्य प्राणान्
क्षणमपि कथयाहं हा कथं सान्त्वयानि।
असहनिजविकुण्ठाः कण्ठमुत्कण्ठयासा
ननु तव मुखमिन्दुं द्रष्टुमेते त्वरन्ति॥ ५॥$

शास्त्र एक गीता ही है, जिसको कि देवकीनन्दन श्रीकृष्णने गाया। देव भी एक देवकीसुत कृष्ण ही हैं, मन्त्र भी बस उनके नाम ही हैं और कर्म भी केवल उनकी सेवा ही है॥ १॥ लावण्यमय अमृतकी बाढ़में माधुर्यकी लहरोंसे प्रकट हुआ मायाकिशोर कृष्ण सकरुण पुरुषोंके हृदयमें प्रकाशमान हो॥ २॥ जो वृन्दावनकी रमणियोंके कानोंका नीलकमल, आँखोंका अञ्जन, वक्षःस्थलके लिये इन्द्रनील मणिका बना हुआ हार एवं समस्त आभूषणरूप है उस भगवान् कृष्णकी बलिहारी है॥ ३॥ अरी सखी! सुन, मैंने नन्दमहरके घर आँगनमें एक बड़ा कौतुक देखा है; वहाँ साक्षात् वेदान्त-सिद्धान्त (ब्रह्म) गोधूलिसे भरे हुए शरीरसे नाच रहा है!॥ ४॥ मेरे प्राणाधार कृष्ण! प्रेमकी प्रौढ़ पिपासासे पीड़ित हुए इन प्राणोंको, तुम्हीं कहो, क्षणभर भी कैसे सान्त्वना दूँ? अब तो [शरीरके अंदर] अपना रोका जाना इन्हें असह्य हो गया है; इतना ही नहीं, ये उत्कण्ठाके मारे कण्ठतक आकर झाँक रहे हैं; और तुम्हारे मुखचन्द्रको देखनेके लिये बाहर निकल भागनेको उतावले हो रहे हैं॥ ५॥

---

* श्रीरामानुजाचार्यस्य। † श्रीभवानन्दस्य पद्यावलीसंग्रहात्। ‡ कविकर्णपूरस्य।

$ पाण्डेयरामनारायणदत्तशास्त्रिणः।

गोपबालसुन्दरीगणावृतं कलानिधिं
रासमण्डलीविहारकारिकामसुन्दरम्।
पद्मयोनिशङ्करादिदेववृन्दवन्दितं
नीलवारिवाहकान्तिगोकुलेशमाश्रये ॥६॥*

किं पिबन्ति मम पदरसं मुनयः सुधां विहाय।
ज्ञातुमिदं बालो हरिः स्वपदं मुखे निनाय॥७॥†

यमुनापुलिने समुत्क्षिपन् नटवेषः कुसुमस्य कन्दुकम्।
न पुनः सखि लोकयिष्यते कपटाभीरकिशोरचन्द्रमाः॥८॥‡

ब्रह्मन्नत्र पुरद्विषा सह पुरः पीठे निषीद क्षणं
तूष्णीं तिष्ठ सुरेन्द्र चाटुभिरलं वारीश दूरीभव।
एते द्वारि मुहुः कथं सुरगणाः कुर्वन्ति कोलाहलं
हन्त द्वारवतीपतेरवसरो नाद्यापि निष्पद्यते॥९॥

ये मुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां
यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे।

जो सुन्दर गोप-बालाओंसे आवृत हैं, कलाओंके आधार हैं, रासमण्डलमें लीला करनेवाले और कामदेवसे भी अधिक सुन्दर हैं तथा श्रीब्रह्माजी और शङ्करादि देववृन्दोंसे वन्दित हैं, उन नील जलधरके समान श्याम गोकुलेश्वर श्यामसुन्दरकी शरण जाता हूँ॥६॥ मुनिजन अमृतको भी छोड़कर मेरे चरणोंका रस बार-बार क्यों पीते हैं?—यह जाननेके लिये ही बालगोपालने अपने चरणके अँगूठेको अपने मुखमें दे रखा था॥७॥ हाय! सखि, यमुना-किनारे फूलोंकी गेंदको उछालते हुए नटवररूपधारी मायामय गोपकिशोर कृष्णचन्द्रकी यह झाँकी अब फिर देखनेको न मिलेगी॥८॥ [कृष्ण-सुदामाके प्रेमालापके समय द्वारपर उपस्थित दर्शनाभिलाषी देवगणोंसे द्वारपाल बोले—] 'हे ब्रह्मन्! आप महादेवजीके सहित कुछ देर सामनेकी चौकीपर बैठें, हे इन्द्र! चुप रहो, चापलूसी करना व्यर्थ है, हे वरुण! दूर हटो, ये देवगण द्वारपर क्यों कोलाहल कर रहे हैं, [तब देवगण उकताकर बोले—] 'आः, क्या करें, द्वारकानाथको अभीतक मिलनेकी फुरसत ही नहीं हुई'॥९॥ मुक्तिके विषयमें भी निःस्पृह रहनेवाले जो भक्त, पद-पदपर आनन्द देनेवाली, जिस भक्तिका आश्रय लेकर जिन सबके चूड़ामणि भक्तप्रिय श्रीहरिको अपने वशमें कर

---

* श्रीरघुनाथस्य। † श्रीविप्रचन्द्रस्य।

‡ शङ्करकवेः।

तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तिप्रियं श्रीहरिं
वन्दे सन्ततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे॥ १०॥*
हे कृष्ण कृष्ण भगवन् मम चित्तभृङ्गो
यायात् कदापि भवतश्चरणारविन्दे।
देहादिपुष्पविरतः कृपया तदानीं
वीक्षस्व वामनयनेन निजं पदाब्जम्॥ ११॥
पथि धावन्निह पतितो रोदिष्यम्बाकरावलम्बाय।
पतितोद्धारणसमये किन्न स्मरसि त्वमात्मानम्॥ १२॥
विहाय पीयूषरसं मुनीश्वरा ममाङ्घ्रिराजीव रसं पिबन्ति किम्।
इति स्वपादाम्बुजपानकौतुकी स गोपबालः श्रियमातनोतु नः॥ १३॥
अयि दीनदयार्द्र नाथ हे मथुरानाथ कदावलोक्यसे।
हृदयं त्वदलोककातरं दयित भ्राम्यति किं करोम्यहम्॥ १४॥†

लेते हैं; उन भक्त, भक्ति और श्रीभगवान्‌की मैं निरन्तर वन्दना और अभ्यर्थना करता हूँ तथा सर्वदा शरण देनेवाले उन्हीं श्रीहरिको प्रतिदिन भजता हूँ॥ १०॥ हे भगवन् कृष्ण! यदि कदाचित् मेरा मनरूपी भ्रमर देहादि पुष्पोंको छोड़कर आपके चरणकमलमें जाय तो उस समय कृपया अपनी बायीं आँखसे अपने चरणकमलकी ओर तनिक देख लेना [वामनेत्र चन्द्ररूप है, इससे उसके द्वारा चरणकमल मुद्रित हो जायगा और मनभ्रमर वहाँ ही फँसा रह जायगा]॥ ११॥ ऐ कन्हैया! राहमें दौड़ते समय यहाँ गिर पड़े तो मैयाके हाथका सहारा लेनेके लिये रो रहे हो! क्या तुम पतितोंका उद्धार करनेके समय [उनके करुण-क्रन्दनको देखकर] अपनी इस दशाको याद नहीं करते। [जैसे तुम आज माताका सहारा चाहते हो वैसे ही दूसरे पतित भी तुम्हारा सहारा चाहते हैं]॥ १२॥ मुनीश्वरगण अमृतरसको त्यागकर मेरे चरणारविन्द-मकरन्दरसका पान क्यों करते रहते हैं—यह सोचकर कौतूहलवश अपने ही चरणकमलके अँगूठेका पान करता हुआ, वह गोपबाल हमारा कल्याण करे॥ १३॥ हे दीनदयार्द्र प्रभो! हे मथुरानाथ! आपका दर्शन कब होगा। प्यारे! आपको देखे बिना मेरे कातर हृदयमें चक्कर आ रहा है, उफ! अब मैं क्या करूँ?॥ १४॥

* विष्णुपुरीस्वामिनो भक्तिरत्नावल्याष्टीकायाम्।

† माधवेन्द्रपुरिस्वामिनः।

न प्रेमगन्धोऽस्ति दरोऽपि मे हरौ
क्रन्दामि सौभाग्यभरं प्रकाशितुम्।
वंशीविलास्याननलोकनं विना
बिभर्मि यत्प्राणपतङ्गकान् वृथा॥ १५॥*
न जाने सम्मुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये।
प्रयान्ति मम गात्राणि श्रोत्रतां किमु नेत्रताम्॥ १६॥*
प्रिय इति गोपवधूभिः शिशुरिति वृद्धैरधीश इति देवैः।
नारायण इति भक्तैर्ब्रह्मेत्यग्राहि योगिभिर्देवः॥ १७॥
नवनीरदसुन्दरनीलवपुं शितिकण्ठशिखण्डितभालशुभम्।
कमलाञ्चितखञ्जननेत्रयुगं तुलसीदलदामसुगन्धवपुम्।
जगदादिगुरुं व्रजराजसुतं प्रणमामि निरन्तरश्रीरमणम्॥ १८॥
नीतं यदि नवनीतं नीतं नीतं किमेतेन।
आतपतापितभूमौ माधव मा धाव मा धाव॥ १९॥
पादाश्रितानां च समस्तचौरं श्रीराधिकाया हृदयस्य चौरम्।
नीलाम्बुजश्यामलकान्तिचौरं चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि॥ २०॥

वंशीविलसित मुखारविन्दके दर्शन बिना भी यदि मैं इन प्राणपखेरुओंको व्यर्थ धारण करता हूँ तो यह सत्य है कि मुझमें न तो श्रीहरिके प्रति थोड़ा भी प्रेम है और न उनका कुछ भय ही है। अपना सौभाग्य प्रकट करनेके लिये ही मैं उनके लिये रोता-चिल्लाता हूँ॥ १५॥ जब प्यारे मेरे सामने आकर अपनी प्यारी बातें सुनाते हैं तो मैं नहीं जानता कि मेरा शरीर श्रोत्ररूप हो जाता है या नेत्ररूप?॥ १६॥ भगवान् श्रीकृष्णको गोपाङ्गनाओंने प्रिय, वृद्धोंने बालक, देवताओंने स्वामी, भक्तोंने नारायण और योगियोंने ब्रह्म समझा था॥ १७॥ जिनका शरीर नीले मेघके समान अतिसुन्दर नीलवर्ण है, मस्तक मयूरपिच्छसे सुशोभित है, नेत्र-युगल कमलकोषमें बैठे हुए खञ्जनके समान हैं तथा शरीर तुलसीदलकी मालासे सुगन्धित है, जगत्के आदिगुरु उन रमारमण श्रीनन्दनन्दनको मैं निरन्तर नमस्कार करता हूँ॥ १८॥ यदि तूने नवनीत ले लिया तो ले ही लिया, इससे क्या हुआ? परन्तु माधव! अब इस सूर्यसे तपी हुई भूमिपर तो तू मत भाग! मत भाग!!॥ १९॥ जो अपने चरणोंके आश्रित जनोंका सर्वस्व, श्रीराधिकाजीका चित्त और नीलकमलकी श्याम आभाको चुरानेवाला है, उस चौराग्रगण्य पुरुषको नमस्कार करता हूँ॥ २०॥

* श्रीकृष्णचैतन्यस्य।

वृन्दारण्ये तपनतनयातीरवानीरकुञ्जे
गुञ्जन्मञ्जुभ्रमरपटलीकाकलीकेलिभाजि ।
आभीरीणां मधुरमुरलीनादसम्मोहितानां
मध्ये क्रीडन्नवतु सततं नन्दगोपालबालः ॥ २१ ॥
कनककमलमालः केशिकंसादिकालः
समरभुवि करालः प्रेमवापीमरालः ।
निखिलभुवनपालः पुण्यवल्लीप्रवालो
वसतु हृदि मदीये सैव गोपालबालः ॥ २२ ॥
परमानन्दसन्दोहकन्दं भद्रकरं सताम् ।
इन्दिरामन्दिरं वन्दे गोविन्दं नन्दनन्दनम् ॥ २३ ॥*
स्मितविकसितवक्त्रं रत्नपाणौ सुवेणुं
सुललितमणिहारं वारिजास्यं वदान्यम् ।
तरुणजलदनीलं चारुगोविन्दवृन्दैः
परमपुरुषमाद्यं बालकृष्णं नमामि ॥ २४ ॥†
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥ २५ ॥‡

श्रीवृन्दावनमें मनोहर गुञ्जार करते हुए मधुपवृन्दकी मधुर स्वरलहरीसे गुञ्जायमान यमुनातटके वेत्र-निकुञ्जमें मुरलीकी मीठी तानसे मुग्ध हुई गोपियोंके बीचमें खेलते हुए नन्दगोपकुमार सर्वदा रक्षा करें ॥ २१ ॥ जो सुवर्णमय कमलकी माला धारण करते हैं, केशी और कंस आदिके काल हैं, रणभूमिमें अति विकराल हैं, प्रेमवापिकाके राजहंस हैं, समस्त लोकोंके प्रतिपालक हैं और पुण्य-लतिकाके नूतन पल्लव हैं, वे ही बाल-गोपाल मेरे हृदयमें बसें ॥ २२ ॥ सज्जनोंके हितकारी, परमानन्दसमूहकी वर्षा करनेवाले मेघ, लक्ष्मीनिवास नन्दनन्दन श्रीगोविन्दकी मैं वन्दना करता हूँ ॥ २३ ॥ जिनका मुख मधुर मुसकानसे विकसित है, रत्नभूषित हाथमें सुन्दर मुरली है, [गलेमें] परममनोहर मणियोंका हार है, कमलके समान मुख है, जो दाता हैं, नवघनसदृश नीलवर्ण हैं और सुन्दर गोपकुमारोंसे घिरे हुए हैं; उन परमपुरुष आदिनारायण श्रीकृष्णको नमस्कार करता हूँ ॥ २४ ॥ कंस और चाणूरका वध करनेवाले, देवकीके आनन्दवर्द्धन, वसुदेवनन्दन जगद्गुरु श्रीकृष्णचन्द्रकी मैं वन्दना करता हूँ ॥ २५ ॥

* नारायणदासकविराजस्य। † शतकरणाचार्यस्य। ‡ गर्गसंहितायाम्।

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥ २६॥*

सजलजलदकालं प्रेमवापीमराल-
मभिनववनमालं क्षेमवल्लीप्रवालम्।
भुवननलिननालं दानवानां करालं
निखिलमनुजपालं नौमि तं नन्दबालम्॥ २७॥†

दोर्भ्यां दोर्भ्यां व्रजन्तं व्रजसदनजनाह्वानतः प्रोल्लसन्तं
मन्दं मन्दं हसन्तं मधुमधुरवचो मेति मेति ब्रुवन्तम्।
गोपालीपाणितालीतरलितवलयध्वानमुग्धान्तरालं
वन्दे तं देवमिन्दीवरविमलदलश्यामलं नन्दबालम्॥ २८॥

पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम्।
एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम्॥ २९॥‡

तटीप्रस्फुटीनीपवाटीकुटीरे वधूटीनटीदृक्पुटीपीयमानम्।
समालिप्तपाटीरवक्षस्तटीकं हरिद्राभराजत्पटीकं नमामि॥ ३०॥

जिनकी कृपा गूँगेको भी वक्ता बना देती है और पङ्गुको भी पर्वत-लङ्घनमें समर्थ कर देती है, उन परमानन्दस्वरूप माधवकी मैं वन्दना करता हूँ॥ २६॥ जो सजल जलधरके सदृश श्याम हैं, प्रेम-वापिकाके राजहंस हैं, नूतन वनमालाधारी हैं, कल्पलताके पल्लव हैं, त्रिभुवनरूपी कमलके नाल हैं, दानवोंके काल हैं, निखिलजन-प्रतिपालक हैं, उन नन्दनन्दन गोपालको नमस्कार करता हूँ॥ २७॥ जो दोनों हाथोंके सहारे घुटनोंके बल चलता है, व्रजवासियोंके बुलानेसे प्रसन्न हो जाता है, मन्द-मन्द मुसकाता है, मीठी-मीठी बोलीसे माँ-माँ कहता है, गोपियोंके ताली बजानेपर उनके कङ्कणोंकी ध्वनिसे मन-ही-मन मुग्ध हो जाता है, उस निर्मल नीलकमलदलके समान श्यामसुन्दर नन्दनन्दनकी मैं वन्दना करता हूँ॥ २८॥ जो गोपियोंका एकत्रित प्रेम है, यादवोंका मूर्तिमान् सौभाग्य है और श्रुतियोंका घनीभूत गुप्त धन है, वह श्यामल परब्रह्म श्रीकृष्ण मेरे समीप ही रहे॥ २९॥ श्रीयमुनाजीके तटपर लहराते हुए कदम्बोंके बगीचेमें किसी वधूटी नटीके लोचन-पुटोंसे पीये जाते हुए सुगन्धित चन्दन लगाये हल्दीके समान रंगवाले शोभायमान वस्त्र धारण करनेवाले मुरारिको नमस्कार करता हूँ॥ ३०॥

---

* भविष्यपुराणे। † श्रीपूर्णचन्द्रस्योद्भटसागरतः। ‡ श्रीराघवचैतन्यचरणानाम्।

कनकरुचिदुकूलश्चारुबर्हावचूलः
सकलनिगमसारः कोऽपि लीलावतारः।
त्रिभुवनसुखकारी शैलधारी मुरारिः
परिकलितरथाङ्गो मङ्गलं नस्तनोतु॥ ३१॥
कदा वृन्दारण्ये विमलयमुनातीरपुलिने
चरन्तं गोविन्दं हलधरसुदामादिसहितम्।
अये कृष्ण स्वामिन् मधुरमुरलीवादन विभो
प्रसीदेत्याक्रोशन्निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्॥ ३२॥*
नन्दनन्दनपदारविन्दयोः स्यन्दमानमकरन्दबिन्दवः।
सिन्धवः परमसौख्यसम्पदां नन्दयन्तु हृदयं ममानिशम्॥ ३३॥†
तत्कैशोरं तच्च वक्त्रारविन्दं तत्कारुण्यं ते च लीलाकटाक्षाः।
तत्सौन्दर्यं सा च मन्दस्मितश्रीः सत्यं सत्यं दुर्लभं दैवतेषु॥ ३४॥‡
हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात् कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥ ३५॥‡

सुनहरे रंगके वस्त्र धारण करनेवाला, मनोहर मोरमुकुटधारी, सकल शास्त्रोंका सारभूत, कोई लीलावतारी त्रिभुवनसुखदाता गिरिवरधारी चक्रपाणि मुरारी हमारा मङ्गल करें॥ ३१॥ वृन्दावनमें, यमुनाजीके पावन तटपर भैया बलराम और सुदामादि सखाओंके साथ घूमते हुए गोविन्दसे 'हे कृष्ण! हे स्वामिन्! हे मधुर मुरली बजानेवाले! हे विभो! प्रसन्न होइये'—ऐसा कहते हुए कब अपने दिनोंको पलक मारनेके समान व्यतीत करूँगा॥ ३२॥ प्यारे नन्ददुलारेके चरण-कमलोंसे चूती हुई मकरन्द बिन्दुएँ मानो परम सुख-सम्पदाओंकी समुद्र ही हैं, वे सदा मेरे हृदयको आनन्दित करें॥ ३३॥ वह किशोरावस्था, वह मुखारविन्द, वह दयालुता, वे लीला-कटाक्ष, वह सौन्दर्य और वह मन्द मुसुकानकी शोभा! सचमुच, ये सब देवताओंमें भी दुर्लभ हैं॥ ३४॥ हे कृष्ण! बलपूर्वक हाथ झिटककर चले गये, इसमें क्या बड़ी बात हुई? आपकी वीरता तो मैं तब मानूँगा जब मेरे हृदयमेंसे चले जायँगे॥ ३५॥

---

* कृष्णलहरिस्तोत्रात्। †कविराजमिश्रस्य पद्यावलीसंग्रहात्। ‡लीलाशुकस्य १।५५, ३।९६।

गोपाल इति मत्वा त्वां प्रचुरक्षीरवाञ्छया।
श्रितो मातुः स्तनक्षीरमपि लब्धुं न शक्नु याम्॥ ३६॥
क्षीरसारमपहृत्य शङ्कया स्वीकृतं यदि पलायनं त्वया।
मानसे मम घनान्धतामसे नन्दनन्दन कथं न लीयसे॥ ३७॥
रत्नाकरस्तव गृहं गृहिणी च पद्मा किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय।
आभीरवामनयनाहृतमानसाय दत्तं मनो यदुपते कृपया गृहाण॥ ३८॥*
आनीता नटवन्मया तव पुरः श्रीकृष्ण या भूमिका
व्योमाकाशखखाम्बराब्धिवसवस्त्वत्प्रीतयेऽद्यावधि ।
प्रीतो यद्यसि ताः समीक्ष्य भगवन् तद् वाञ्छितं देहि मे
नो चेद् ब्रूहि कदापि मानय पुनर्मामीदृशीं भूमिकाम्॥ ३९॥*
शरीरं सुरूपं ततो वै कलत्रं यशश्चारु चित्रं धनं मेरुतुल्यम्।
यशोदाकिशोरे मनो वै न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम्॥ ४०॥

तुम गोपाल हो—ऐसा जानकर मैंने खूब दूध पीनेकी इच्छासे तुम्हारा आश्रय लिया था, किन्तु अब तो मुझे माताके स्तनोंका भी दूध मिलना असम्भव हो गया! (अर्थात् मैं मुक्त हो गया)॥ ३६॥

[मातासे छिपे-छिपे] माखन लेकर डरके मारे यदि आपने भागना ही स्वीकार किया है तो हे नन्दनन्दन! महान् अन्धकारमय मेरे मनरूपी कोठरीमें ही क्यों नहीं आ छिपते?॥ ३७॥ रत्नाकर (क्षीरसमुद्र) तो आपका घर है, साक्षात् लक्ष्मीजी आपकी स्त्री हैं, आप स्वयं जगदीश्वर हैं, भला, आपको क्या दिया जाय? किन्तु, हे यदुनाथ! गोपियोंने अपने नेत्रकटाक्षसे आपका मन हर लिया है; इसलिये अपना मन आपको अर्पण करता हूँ कृपया इसे ग्रहण कीजिये॥ ३८॥ हे भगवान् श्रीकृष्ण! आजतक नटकी भाँति जो चौरासी लाख (योनियोंकी) लीलाएँ मैंने आपके सामने की हैं, यदि उनको देखकर आप प्रसन्न हैं तो मेरी मनोकामना पूर्ण कीजिये, और यदि प्रसन्न नहीं हैं तो साफ कह दीजिये कि अब फिर ऐसी कोई लीला मेरे सामने मत करना†॥ ३९॥ सुन्दर शरीर हो, सुरूप स्त्री हो , सुन्दर एवं विचित्र यश हो तथा सुमेरु-तुल्य धन हो, किन्तु यदि यशोदानन्दनमें मन नहीं लगा तो उन सबोंसे क्या लाभ है?॥ ४०॥

---

* खानखाना श्रीअब्दुलरहीमकवेः।

† इस प्रार्थनामें दोनों तरहसे लाभ ही है, यदि मनोवाञ्छित वर मिल गया तो भी मुक्ति होगी और चौरासी लाख योनियोंको लीला न करनेका आदेश होगा तो भी मुक्ति ही है।

न भोगे न योगे न वा वाजिराजौ न कान्तामुखे नैव वित्तेषु चित्तम्।
यशोदाकिशोरे मनो वै न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम्॥ ४१॥
षडङ्गादिवेदो मुखे शास्त्रविद्या कवित्वादि गद्यं सुपद्यं करोति।
यशोदाकिशोरे मनो वै न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम्॥ ४२॥
रे चित्त चिन्तय चिरं चरणौ मुरारेः
पारं गमिष्यसि यतो भवसागरस्य।
पुत्राः कलत्रमितरे न हि ते सहायाः
सर्वं विलोकय सखे मृगतृष्णिकाभम्॥ ४३॥
नन्दनन्दनपदारविन्दयोर्मन्दमन्दमनुजायतां मनः।
मुञ्च मुञ्च विषयेषु वासनाः किञ्च किञ्च तदुदीर्यतां वचः॥ ४४॥
अहङ्कार क्वापि व्रज वृजिन हे मा त्वमिह भू-
रभूमिर्दर्पाणामहमपसर त्वं पिशुन हे।
अये क्रोध स्थानान्तरमनुसरानन्यमनसां
त्रिलोकीनाथो नो हृदि वसतु देवो हरिरसौ॥ ४५॥*
का चिन्ता मम जीवने यदि हरिर्विश्वम्भरो गीयते
नो चेदर्भकजीवनाय जननीस्तन्यं कथं निःसरेत्।

भोगमें, योगमें, घोड़ोंमें, कामिनीके वदनमें अथवा धनमें कहीं भी चित्तकी आसक्ति भले ही न हो; किन्तु यदि यशोदानन्दनमें मन नहीं लगा तो उससे (भी) क्या लाभ है?॥ ४१॥ छहों अङ्गोंसहित वेद और शास्त्रोंको पढ़ा हो, सुन्दर गद्य और पद्यमय काव्यरचना करता हो, किन्तु यदि यशोदानन्दनमें मन नहीं लगा तो उन सभीसे क्या लाभ है?॥ ४२॥ अरे चित्त! तू निरन्तर श्रीकृष्णके चरणोंका स्मरण कर, जिससे कि तू भवसागरके पार जा सकेगा। पुत्र, कलत्र तथा अन्य कोई भी तेरे सहायक नहीं हैं, हे मित्र! इन सबको तू मृगतृष्णाके तुल्य समझ॥ ४३॥ श्रीनन्दनन्दनके चरणारविन्दोंमें धीरे-धीरे उसी (भगवन्नाम ही) का उच्चारण कर॥ ४४॥ रे अहङ्कार! तू कहीं चला जा, अरे पाप! खबरदार, अब तू यहाँ न रहना, अरे पिशुन! (कूटनीति) तू भी दूर हो; क्योंकि अब मैं अभिमानका पात्र न रहा, रे क्रोध! तू भी यहाँसे अब और कहीं अपना डेरा डाल, आजसे हम अनन्य चित्तवालोंके हृदयमें वे भगवान् त्रिलोकीनाथ हरि ही निवास करें॥ ४५॥ यदि भगवान् हरिका नाम विश्वम्भर प्रसिद्ध है तो फिर मुझे अपने जीवनकी क्या चिन्ता है? नहीं तो (यदि वे विश्वका पालन न करते तो) शिशुके जीवनरक्षार्थ माताके स्तनोंसे दूध कैसे निकलता?

* शान्तिशतकस्य।

इत्यालोच्य मुहुर्मुहुर्यदुपते लक्ष्मीपते केवलं
त्वत्पादाम्बुजसेवनेन सततं कालो मया नीयते॥ ४६॥*

या चिन्ता भुवि पुत्रपौत्रभरणव्यापारसम्भाषणे
या चिन्ता धनधान्यभोगयशसां लाभे सदा जायते।
सा चिन्ता यदि नन्दनन्दनपदद्वन्द्वारविन्दे क्षणं
का चिन्ता यमराजभीमसदनद्वारप्रयाणे प्रभो॥ ४७॥

जीर्णा तरिः सरिदियं च गभीरनीरा
नक्राकुला वहति वायुरतिप्रचण्डः।
तार्याः स्त्रियश्च शिशवश्च तथैव वृद्धाः
तत्कर्णधारभुजयोर्बलमाश्रयामः ॥ ४८॥

सिन्धुर्बिन्दुमहो प्रयच्छति न हि स्वैरी च धाराधरः
सङ्कल्पेन विना ददाति न कदाप्यल्पञ्च कल्पद्रुमः।
स्वच्छन्दोऽपि विधुः सुधावितरणे रात्रिन्दिवापेक्षते
दाता कोऽपि न दृश्यते विनियमं श्रीकृष्णचन्द्रं विना॥ ४९॥†

ऐसा बारम्बार सोचकर हे यदुपते! हे लक्ष्मीपते! केवल आपके चरण-कमलके सेवनमें ही मैं निरन्तर अपना समय बिता रहा हूँ॥ ४६॥ संसारमें पुत्र-पौत्रोंके भरण-पोषण, व्यापार और बातचीत करनेकी जितनी चिन्ता रहती है तथा धन-धान्य, भोग और यशकी प्राप्तिके लिये जितनी चिन्ता सर्वदा होती है; उतनी चिन्ता यदि क्षणभर भी नन्दनन्दनके चरणारविन्दोंके विषयमें हो तो हे प्रभो! फिर यमराजके भयानक घरके द्वारतक जानेकी चिन्ता ही क्यों रहे?॥ ४७॥ हमारी नौका अति जीर्ण है, मकरादिसे परिपूर्ण यह नदी बड़ी गम्भीर है और अति प्रचण्ड पवन चल रहा है; स्त्री, बालक और वृद्ध सबको पार करना है; इसलिये हम उस कर्णधार कृष्णके भुजबलका आश्रय ग्रहण करते हैं॥ ४८॥ समुद्र तो एक बूँद भी किसीको नहीं देता, मेघ भी अपने मनका है, कल्पवृक्ष बिना सङ्कल्पके किसीको थोड़ा-सा भी कदापि नहीं देता, चन्द्रमा (दिनमें) भी अमृत-दान करनेमें स्वच्छन्द है तो भी उसको रात्रिकी अपेक्षा रहती है; श्रीकृष्णचन्द्रके बिना अनियमितरूपसे देनेवाला तो और कोई भी नहीं दिखायी देता!॥ ४९॥

---

* श्रीचाणक्यस्य। † श्रीघनश्यामदासस्य।

तत्प्रेमभावरसभक्तिविलासनाम-
　　हारेषु चेत् खलु मनः किमु कामिनीभिः।
तल्लोकनाथपदपङ्कजधूलिमिश्र-
　　लिप्तं वपुः किमु वृथागुरुचन्दनाद्यैः॥५०॥*

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं च पीतं पयः
　　स्वर्यातेन सुधाप्यधायि कतिधा रम्भाधरः खण्डितः।
सत्यं ब्रूहि मदीयजीव भवता भूयो भवे भ्राम्यता
　　कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः॥५१॥†

चूडाचुम्बितचारुचन्द्रकचमत्कारव्रजभ्राजितं
　　दिव्यं मञ्जुमरन्दपङ्कजमुखभ्रूनृत्यदिन्दीवरम्।
रज्यद्वेणुकमूलरोकविलसद्बिम्बाधरौष्ठं मुहुः
　　श्रीवृन्दावनकुञ्जकेलिललितं राधाप्रियं प्रीणये॥५२॥‡

भगवान्‌के प्रेमभाव, रस, भक्ति, विलास और नाममालाओंमें यदि मन लग रहा है तो फिर कामिनियों (के इन प्रेमादि भावों) से क्या प्रयोजन है? उस लोकनाथकी पदपङ्कज-धूलिसे यदि शरीर धूसरित हो रहा है तो फिर व्यर्थ ही अगुरुचन्दनादिके लेपनसे क्या लाभ है?॥ ५०॥ ऐ मेरे जीव! तुमने दाखका रसास्वादन किया, मिश्री खायी और स्वादिष्ट दूध भी पीया, स्वर्गमें जानेपर तुमने अनेकों बार अमृतपान और रम्भाका अधर भी चुम्बन किया होगा; परन्तु सच-सच बताओ, तुमने पुनः-पुनः संसारमें घूमते हुए, 'कृष्ण' नामके दो अक्षरोंमें जो माधुर्यका उद्गार है, ऐसा कहीं और भी देखा है॥ ५१॥ जो सिरपर लगे हुए सुन्दर मोरपङ्खकी चमकद्वारा बढ़े हुए कान्ति-पुञ्जसे भासित हो रहे हैं, जिनके मधुर मकरन्दपूरित मुखारविन्दपर भ्रूकुटीरूपी युगल नीलकमल नृत्य कर रहे हैं, जिनकी दिव्य प्रभा है, जिनका विम्बाधर वंशीके छिद्रके सम्पर्कसे शोभित एवं रागयुक्त हो रहा है, ऐसे वृन्दावनके निकुञ्जोंमें लीला करते हुए सुन्दर राधावल्लभकी आराधना करता हूँ॥ ५२॥

---

* पद्मपुराणपातालखण्डात्। अ० ८१। ६९।

† पण्डितराजजगन्नाथस्य—रसगङ्गाधरात्।

‡ गोस्वामिगोपालभट्टस्य कृष्णकर्णामृतटीकायाः।

वृन्दावृन्दमरन्दविन्दुनिचयस्पन्देन सन्दीपिता-
दृन्थाद्यस्य सनन्दनादिरमृतानन्देऽपि मन्दादरः।
मोक्षानन्दथुनिन्दिसेवनसुखस्वाच्छन्द्यसंदोहदे
तद्वन्देमहि नन्दनन्दनपदद्वन्द्वारविन्दं मुहुः॥५३॥*
वन्दे नवघनश्यामं पीतकौशेयवाससम्।
सानन्दं सुन्दरं शुद्धं श्रीकृष्णं प्रकृतेः परम्॥५४॥†
क्वाननं क्व नयनं क्व नासिका क्व श्रुतिः क्व च शिखेति केलितः।
तत्र तत्र निहिताङ्गुलीदलो वल्लवीकुलमनन्दयत्प्रभुः॥५५॥‡
मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां
सकलनिगमवल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम्।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर नरमात्रं तारयेत्कृष्णनाम॥५६॥$
गोविन्दं गोकुलानन्दं गोपालं गोपवल्लभम्।
गोवर्द्धनधरं धीरं तं वन्दे गोमतीप्रियम्॥५७॥+

जिन चरणोंकी तुलसीमञ्जरीके मकरन्दबिन्दुओंकी धारासे फैलती हुई सुगन्ध पाकर सनकादि मुनि ब्रह्मानन्दको भी तुच्छ-सा समझने लगे, जो मोक्षसुखको भी तिरस्कृत करनेवाले अपने सेवनजन्य आनन्द-सन्दोहकी स्वच्छन्दता प्रदान करता है, उन श्रीनन्दनन्दनके दोनों चरणारविन्दोंकी बारम्बार वन्दना करता हूँ॥ ५३॥

नवीन मेघके सदृश श्याम रेशमी पीताम्बर धारण करनेवाले, आनन्दमय, अति सुन्दर, शुद्धस्वरूप तथा प्रकृतिसे अतीत श्रीकृष्णचन्द्रकी वन्दना करता हूँ॥ ५४॥ [बालगोपालसे जब गोपियाँ पूछती थीं—] बताओ तो कृष्ण! तुम्हारा मुँह कहाँ है? आँख कहाँ है? नाक और चोटी कहाँ हैं? तब इसके उत्तरमें लीलापूर्वक उन-उन अङ्गोंपर अँगुलियाँ रखकर भगवान् गोपियोंको आनन्दित करते थे॥ ५५॥ हे शौनक! मधुरसे भी मधुर, मङ्गलोंका भी मङ्गलरूप, समस्त श्रुतिलताका फलस्वरूप, चिन्मय यह कृष्णनाम श्रद्धा अथवा अनादरसे एक बार भी उच्चारण करनेपर मनुष्यमात्रका उद्धार कर देता है॥ ५६॥ गोकुलके आनन्दस्वरूप, गौओंके पालक, गोपोंके प्रिय गोवर्धनधारी और गोमती-प्रिय, धीर श्रीकृष्णको नमस्कार करता हूँ॥ ५७॥

---

* श्रीहरिमोहनप्रामाणिकस्य कोकिलदूतात्। † श्रीनारदपाञ्चरात्रे कृष्णस्तोत्रात्। ‡ गोस्वामिरघुनाथदासस्य पद्यावलीसंग्रहात्। $ स्कन्दपुराणात्। + बलिराजेन्द्रस्य हरिनाममालायाः।

हे गोपालक हे कृपाजलनिधे हे सिन्धुकन्यापते
हे कंसान्तक हे गजेन्द्रकरुणापारीण हे माधव।
हे रामानुज हे जगत्त्रयगुरो हे पुण्डरीकाक्ष मां
हे गोपीजननाथ पालय परं जानामि न त्वां विना॥ ५८॥*
इमां घनश्रेणिमिवोन्मुखः शिखी चकोरकः कार्तिकचन्द्रिकामिव।
रथाङ्गनामा तरणेरिव त्विषं कृष्णच्छविं वीक्ष्य न कः प्रमोदते॥ ५९॥
रे चेतः कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन्
वृन्दं कोऽपि गवां नवाम्बुदनिभो बन्धुर्न कार्यस्त्वया।
सौन्दर्यामृतमुद्गिरद्भिरभितः संमोह्य मन्दस्मितै-
रेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति॥ ६०॥
इन्दुं कैरविणीव कोकपटलीवाम्भोजिनीवल्लभं
मेघं चातकमण्डलीव मधुपश्रेणीव पुष्पव्रजम्।
माकन्दं पिकसुन्दरीव रमणीवात्मेश्वरं प्रोषितं
चेतोवृत्तिरियं सदा प्रियवर त्वां द्रष्टुमुत्कण्ठते॥ ६१॥

हे गौओंका पालन करनेवाले, हे दयासागर, हे लक्ष्मीपते, हे कंस-विनाशक, हे गजेन्द्रके लिये परमकरुणामय, हे मायापते, हे बलरामानुज, हे त्रैलोक्यगुरो, हे कमलनयन, हे गोपियोंके स्वामी! आप मेरी रक्षा करें; मैं आपके सिवा दूसरेको नहीं जानता॥ ५८॥ मेघपंक्तियोंको देखकर जिस प्रकार मोर नाच उठता है, शरद्-ऋतुके चन्द्रमाकी ज्योत्स्नाका दर्शनकर जिस प्रकार चकोर खिल उठता है, सूर्य-किरणोंको देखकर चकवा जैसे हर्षित होता है; उसी प्रकार कौन इस कृष्णछबिको देखकर हर्षित न होगा?॥ ५९॥ रे चित्त! मैं यह तेरे हितकी बात कहता हूँ कि वृन्दावनमें गौओंको चरानेवाले किसी नवीन मेघके समान श्यामपुरुषको मित्र न बना लेना; क्योंकि वह सौन्दर्यामृत बरसानेवाले मन्दहास्यसे सब प्रकार मोहित करके, तुझे और तेरे प्रिय विषयोंको शीघ्र ही नष्ट कर देगा॥ ६०॥ जिस प्रकार कुमुदिनी चन्द्रमाके लिये, चकवा-चकवीका समूह सूर्यके लिये, चातक-मण्डली मेघके लिये, भ्रमरगण पुष्पोंके लिये, कोयल आम्र-मञ्जरीके लिये तथा सुन्दर स्त्री अपने प्रवासी पतिके लिये उत्सुक रहती है उसी प्रकार हे प्यारे! तुम्हारे दर्शनके लिये हमारी चित्तवृत्ति उत्कण्ठित हो रही है॥ ६१॥

---

* रामानुजस्तोत्रात्।

इन्दीवरदलश्याममिन्दिरानन्दकन्दलम्।
वन्दारुजनमन्दारं वन्देऽहं यदुनन्दनम्॥ ६२॥
यावन्निरञ्जनमजं पुरुषं जरन्तं
सञ्चिन्तयामि हृदये जगति स्फुरन्तम्।
तावद्बलात्स्फुरति हन्त हृदन्तरे मे
गोपस्य कोऽपि शिशुरञ्जनपुञ्जमञ्जुः॥ ६३॥
करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
बटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि॥ ६४॥*
गोविन्दं गोकुलानन्दं वेणुवादनतत्परम्।
राधिकारञ्जनं श्यामं वन्दे गोपालनन्दनम्॥ ६५॥
निरुद्धं वाष्पान्तः कथमपि मया गद्गदगिरा
ह्रिया सद्यो गूढा पथि विघटितो वेपथुरपि।
गिरिद्रोण्यां वेणौ ध्वनति निपुणैरिङ्गितनये
तथाप्यूहां चक्रे मम मनसि रागः परिजनैः॥ ६६॥

नीलकमलदलके समान श्यामवर्णवाले, लक्ष्मीको आनन्द देनेवाले और प्रणत जनोंके लिये कल्पवृक्षके समान, भगवान् यदुनन्दनकी मैं वन्दना करता हूँ॥ ६२॥ जब मैं हृदयके भीतर, जगत्में प्रकाशमान, निरञ्जन, अज, पुराण (बूढ़े) पुरुषका चिन्तन करता हूँ तो बड़े आश्चर्यकी बात है कि कोई कज्जलके समान श्यामसुन्दर गोपबालक हठात् मेरे हृदयमें प्रकाशित होने लगता है॥ ६३॥ अपने कमलोपम हाथसे चरणकमलको मुखकमलमें लगाते हुए वटके पत्तेपर सोये बालगोपालका मैं मन-ही-मन स्मरण करता हूँ॥ ६४॥ जो गोकुलके आनन्दस्वरूप, वेणु-वादनमें तत्पर और श्रीराधिकाजीका मनोरञ्जन करनेवाले हैं, उन गोपकुमार श्यामसुन्दर श्रीगोविन्दकी वन्दना करता हूँ॥ ६५॥ गोवर्धनगिरिकी घाटीमें वेणु बजाते समय यद्यपि किसी भी तरह मैंने आँसुओंको भीतर ही रोक लिया, गद्गद वाणी भी लज्जासे तत्काल छिपा ली, चलते समय देह-कम्पनको भी दबाया तो भी मनोभाव ताड़नेमें चतुर सहेलियोंने मेरे मनकी प्रेमदशाका अनुमान कर ही लिया॥ ६६॥

---

* पुष्टिमार्गीयस्तोत्ररत्नाकरात्।

कस्तूरीतिलकं ललाटपटले वक्षःस्थले कौस्तुभं
नासाग्रे वरमौक्तिकं करतले वेणुः करे कङ्कणम्।
सर्वाङ्गे हरिचन्दनं सुललितं कण्ठे च मुक्तावली
गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणिः॥ ६७॥*

निखिलभुवनलक्ष्मीनित्यलीलास्पदाभ्यां
कमलविपिनवीथीगर्वसर्वकषाभ्याम्।
प्रणमदभयदानप्रौढिगाढोद्धताभ्यां
किमपि वहतु चेतः कृष्णपादाम्बुजाभ्याम्॥ ६८॥*

प्रणयपरिणताभ्यां प्राभवालम्बनाभ्यां
प्रतिपदललिताभ्यां प्रत्यहं नूतनाभ्याम्।
प्रतिमुहुरधिकाभ्यां प्रस्नुवल्लोचनाभ्यां
प्रभवतु हृदये नः प्राणनाथः किशोरः॥ ६९॥*

लीलायताभ्यां रसशीतलाभ्यां
लीलारुणाभ्यां नयनाम्बुजाभ्याम्।
आलोकयेदद्भुतविभ्रमाभ्यां
काले कदा कारुणिकः किशोरः॥ ७०॥†

जिनके मस्तकपर कस्तूरीका तिलक है, वक्षःस्थलमें कौस्तुभमणि है, नासिकाग्रमें अति सुन्दर मोतीकी बुलाक है, करतलमें वंशी है, हाथोंमें कङ्कण है, सम्पूर्ण शरीरमें हरिचन्दनका लेप हुआ है और कण्ठमें मनोहर मोतियोंकी माला है, व्रजाङ्गनाओंसे घिरे हुए ऐसे गोपालचूडामणिकी बलिहारी है॥ ६७॥ संसारमात्रकी लक्ष्मीकी लीलाके नित्यनिकेतन, कमलवनकी वीथीमें विराजमान समस्त कमलोंके गर्वहारी, आश्रित जनोंको अभय देनेमें सर्वथा उद्यत, श्रीकृष्णके चरणारविन्दसे मेरा मन कोई विशेष नाता जोड़ ले॥ ६८॥ प्राणाधार किशोरमूर्ति श्रीकृष्ण अपने प्रेमपूर्ण, आश्रयदाता, सदा सुन्दर, नित्यनूतन, क्षण-क्षण खिलते हुए, आनन्दवर्षी नेत्रोंसे हमारे हृदयको वशीभूत कर लें॥ ६९॥ परम कारुणिक नन्दकिशोर अपने लीलायुक्त विशाल, प्रेमरससे शीतल, कुछ-कुछ लाल, अद्भुत विलासयुक्त कमलनयनोंसे मुझे कब देखेंगे॥ ७०॥

---

* बिल्वमङ्गलापरनामधेयस्य श्रीलीलाशुकस्य कृष्णकर्णामृतात् २। १०; १। २२, १३।

† श्रीलीलाशुकस्य १। ४५।

त्रिभुवनसरसाभ्यां　　दीप्तभूषापराभ्यां
　　दृशि　दृशि　शिशिराभ्यां　दिव्यलीलाकुलाभ्याम्।
अशरणशरणाभ्यामद्भुताभ्यां　　पदाभ्या-
　　मयमयमनुकूजद्वेणुरायाति　　देवः ॥ ७१ ॥*

बर्हं नाम विभूषणं बहु मतं वेषाय शेषैरलं
　　वक्त्रं　दन्तविशेषकान्तिलहरीविन्यासधन्याधरम्।
शीलैरल्पधियामगम्यविभवैः　　शृङ्गारभङ्गीमयं
　　चित्रं चित्रमहो विचित्रमहहो चित्रं विचित्रं महः ॥ ७२ ॥*

माधुर्यादपि　मधुरं　मन्मथतातस्य　किमपि　कैशोरम्।
चापल्यादपि　चपलं　चेतो　मम　हरति　किं　कुर्मः ॥ ७३ ॥*

प्रेमदं च मे कामदं च मे वेदनं च मे वैभवं च मे।
जीवनं च मे जीवितं च मे दैवतं च मे देव नापरम् ॥ ७४ ॥*

उपासतामात्मविदः पुराणं परं पुमांसं निहितं गुहायाम्।
वयं　यशोदाशिशुबाललीलाकथासुधासिन्धुषु　लीलयामः ॥ ७५ ॥*

त्रिभुवनके प्रति सरस (सदा सानुराग रहनेवाले), देदीप्यमान आभूषणधारी, प्रत्येक दर्शकके नेत्रोंको शीतल करनेवाले, दिव्य लीलाओंसे परिपूर्ण, अशरणशरण और आश्चर्यमय युगल चरणसे ये भगवान् श्रीकृष्ण वंशी बजाते हुए आ रहे हैं ॥ ७१ ॥ जिनकी वेषरचनाके लिये अन्य भूषणोंका क्या काम, मोरपङ्ख ही पर्याप्त हैं, जिनका मुख दाँतोंकी विशेष कान्तिमयी झिलमिलाहटसे सुशोभित ओठोंवाला है, अल्पबुद्धियोंद्वारा समझमें न आनेवाले वैभवभरे चरित्रोंसे युक्त उन भगवान्‌का शृङ्गारभङ्गीमय तेज क्या ही अद्‌भुत है! ॥ ७२ ॥ श्रीकृष्णकी किशोरावस्था, जो कि मधुरसे भी मधुर और कामदेवस्वरूप है, मेरे चञ्चलसे भी चञ्चल चित्तको चुरा रही है; अहो! मैं क्या करूँ? ॥ ७३ ॥ हे देव! आपके सिवा मुझे प्रेमदान देनेवाला, मनोरथ पूर्ण करनेवाला, मेरा अनुभव, ऐश्वर्य, जीवन, प्राणाधार और देवता अन्य कोई नहीं है ॥ ७४ ॥ बड़े-बड़े आत्मविज्ञानी किसी गुफामें छिपे हुए परम पुराण-पुरुषकी उपासना करें, हमलोग तो यशोदापुत्रकी बाललीलाके कथामृतसागरमें ही क्रीडा कर रहे हैं ॥ ७५ ॥

---

* श्रीलीलाशुकस्य १।८०; १।५८; १।६४; १।१०३; २।५५।

ते ते भावाः सकलजगतीलोभनीयप्रभावा
नानातृष्णासुहृदि हृदि मे काममाविर्भवन्तु।
वीणावेणुक्वणितलसितस्मेरवक्त्रारविन्दा-
न्नाहं जाने मधुरमपरं नन्दपुण्याम्बुपूरात्॥ ७६ ॥*

पर्याकुलेन नयनान्तविजृम्भितेन
वक्त्रेण कोमलदरालितविभ्रमेण।
मन्द्रेण मञ्जुलतरेण च जल्पितेन
नन्दस्य हन्त तनयो हृदयं धुनोति॥ ७७ ॥*

लीलाटोपकटाक्षनिर्भरपरिष्वङ्गप्रसङ्गाधिक-
प्रीते रीतिविभङ्गसङ्गरलसद्वेणुप्रणादामृते।
राधालोचनलालितस्य ललितस्मेरे मुरारेर्मुदा
माधुर्यैकरसे मुखेन्दुकमले मग्नं मदीयं मनः॥ ७८ ॥*

विहाय कोदण्डशरान्मुहूर्तं गृहाण पाणौ मणिचारुवेणुम्।
मायूरबर्हं च निजोत्तमाङ्गे सीतापते त्वां प्रणमामि पश्चात्॥ ७९ ॥*

नाना तृष्णायुक्त मेरे हृदयमें, जगन्मात्रको लुब्ध करनेवाले प्रभावसे युक्त अनेक पदार्थ भले ही उपस्थित हों; किन्तु वंशीध्वनिसे लसित मधुर मुसकानयुक्त मुखकमलवाले नन्दजीकी पुण्यनिधि कृष्णसे बढ़कर दूसरेको मैं मधुर नहीं समझता॥ ७६॥ चपल कटाक्षविलाससे हास-विलासके समय जिसके कोमल कपोलोंमें कुछ गढ़े-से पड़ जाते हैं, ऐसे मुखसे मन्द-मन्द मीठी बातें करनेसे अहो! यह चञ्चल नन्दकिशोर मेरे हृदयको डाँवाडोल कर रहा है॥ ७७॥ राधाकी आँखोंसे दुलारे हुए श्रीमुरारीके लीलामय कटाक्ष तथा गाढालिङ्गन और सङ्गमें अत्यन्त प्रेमासक्ति हो जानेके कारण जो रीतियुक्त क्रीडाके लिये शोभायमान वंशीकी अमृतध्वनिसे युक्त है उस मनोहर मुसकानपूर्ण, माधुर्यरससे भरे हुए चन्द्रमुखकमलमें मेरा मन मग्न हो गया है॥ ७८॥ [सूरदासने अपने प्यारेको रामरूपमें देखकर कहा—] हे सीतापते! आप कुछ देरके लिये इस धनुषबाणको छोड़कर मणिजटित सुन्दर वंशी हाथमें धारण कीजिये और सिरपर मोरपंख लगाइये तो फिर मैं आपको प्रणाम करूँ॥ ७९॥

---

* श्रीलीलाशुकस्य ३। ७, ३। २०, २२, ९४।

कालिन्दीपुलिने तमालनिविडच्छाये पुरः सञ्चर-
त्तोये तोयजपत्रपात्रनिहितं दध्यन्नमश्नाति यः।
वामे पाणितले निधाय मधुरं वेणुं विषाणं कटि-
प्रान्ते गाश्च विलोकयन् प्रतिपलं तं बालमालोकये॥ ८०॥*
मार मा वस मदीयमानसे माधवैकनिलये यदृच्छया।
हे रमारमण वार्यतामसौ कः सहेत निजवेश्मलङ्घनम्॥ ८१॥*
अयं क्षीराम्भोधेः पतिरिति गवां पालक इति
श्रितोऽस्माभिः क्षीरोपनयनधिया गोपतनयः।
अनेन प्रत्यूहो व्यरचि सततं येन जननी-
स्तनादप्यस्माकं सकृदपि पयो दुर्लभमभूत्॥ ८२॥*
नखनियमितकण्डून् पाण्डवस्यन्दनाश्वा-
ननुदिनमभिषिञ्चन्नञ्जलिस्थैः पयोभिः।
अवतु विततगात्रस्तोत्रसंस्यूतमौलि-
र्दशनविधृतरश्मिर्देवकीपुण्यराशिः॥ ८३॥*
भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा भगवन्यदि स्या-
द्दैवेन नः फलितदिव्यकिशोरवेषे।

जो तमालवनकी घनी छायासे युक्त यमुना-तीरपर, जहाँ सामने ही धारा बह रही है, बैठकर कमलपत्रके दोनेमें रखे हुए दही-चिउड़ा खाते हैं और बायें हाथमें मधुर वंशी तथा कमरमें शृङ्गको रखकर प्रतिक्षण इधर-उधर गायोंको भी देखते हैं, ऐसे बालकृष्णकी झाँकी मैं देख रहा हूँ॥ ८०॥ ओ मदन! माधवके एकमात्र निवासस्थान मेरे मानसमें तू मत घुस और हे रमानाथ! आप भी इसको मना करें, भला, कौन अपने घरपर दूसरेका अधिकार सह सकता है?॥ ८१॥ हमने तो यह सोचकर कृष्णकी शरण ली थी कि ये क्षीरसागरके स्वामी, गायोंके पालन करनेवाले और गोपपुत्र हैं; इसलिये मनचाहा दूध पीनेको मिलेगा, किन्तु इन्होंने तो ऐसा विघ्न डाला कि हमें एक बार माताके स्तनका भी दूध मिलना दुर्लभ हो गया॥ ८२॥ जो मुकुटमें चाबुक खोंसकर, दाँतोंसे लगाम पकड़कर अर्जुनके रथके घोड़ोंको अपने नखोंसे खुजलाते हुए फैलाये हुए शरीरसे अञ्जलि भर-भरके प्रतिदिन स्नान करानेमें मुस्तैद हैं, वे देवकीकी पुण्यराशि पार्थसारथि कृष्ण हमारी रक्षा करें॥ ८३॥ हे भगवन्! यदि आपके दिव्य किशोरवेषमें सौभाग्यसे हमारी भक्ति स्थिर हो जाय

* श्रीलीलाशुकस्य ३। ८१, ९०, ९५; २। ४७।

मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलि सेवतेऽस्मा-
न्धर्मार्थकामगतयः समयप्रतीक्षाः ॥ ८४ ॥*
अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना।
इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगः संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः ॥ ८५ ॥*
बालिकातालिकाताललीलालयासंगसंदर्शितभ्रूलताविभ्रमः ।
गोपिकागीतदत्तावधानः स्वयं संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः ॥ ८६ ॥*
मध्येगोकुलमण्डलं प्रतिदिशं चाम्भारवोज्जृम्भिते
प्रातर्दोहमहोत्सवे नवघनश्याम रणन्नूपुरम्।
भाले बालविभूषणं कटिरणत्सत्किङ्किणीमेखलं
कण्ठे व्याघ्रनखं च शैशवकलाकल्याणाकार्त्स्न्यं भजे ॥ ८७ ॥*
कामं सन्तु सहस्रशः कतिपये सारस्य धौरेयकाः
कामं वा कमनीयतापरिणतिस्वाराज्यबद्धव्रताः।
नैवैतैर्विवदामहे न च वयं देव प्रियं ब्रूमहे
यत्सत्यं रमणीयतापरिणतिस्त्वय्येव पारं गता ॥ ८८ ॥*

तो मुक्ति स्वयं हाथ जोड़कर सम्मुख खड़ी रहे और धर्म, अर्थ, काम आदि भी आज्ञाकी प्रतीक्षा करने लगेंगे॥ ८४॥ हर एक गोपीके बाद एक कृष्ण और हर एक कृष्णके बाद एक गोपी इस प्रकार रचे हुए रासमण्डलके बीचमें खड़े होकर कृष्ण वंशीद्वारा गान करने लगे॥ ८५॥ गोपियोंकी तालीद्वारा ताल देनेकी लीला और लयके अनुसार भ्रूलताओंकी भंगी दिखलाते हुए उनके गीतमें स्वयं तन्मय होकर देवकीनन्दन वंशीद्वारा गान करने लगे॥ ८६॥ प्रातःकाल गोदोहनमहोत्सवके समय जब चारों ओर गायें राँभ रही थीं, तब सिरपर बालोचित आभूषण पहने हुए कमरमें बजती हुई सुन्दर करधनी और गलेमें बाघके नख पहने हुए गायोंके बीचमें खड़े बाल-शृङ्गारसे पूर्णतया विभूषित नव-घनश्यामको भजता हूँ॥ ८७॥ हे देव! हजारोंकी संख्यामें कुछ लोग भले ही किसी अन्य सार पदार्थको ढोते रहें अथवा परमकमनीय आत्मराज्यकी प्राप्तिके लिये दृढ़संकल्प बने रहें, हम न तो उनसे विवाद करते हैं और न आपसे मुखदेखी मीठी बातें ही करते हैं, जो सच है, वही कहते हैं, कमनीयताकी चरम सीमा तो एकमात्र आपहीमें समाप्त हुई है॥ ८८॥

---

* श्रीलीलाशुकस्य १। १०६, २। ३५, ४१, ८६, ९९।

यां दृष्ट्वा यमुनां पिपासुरनिशं व्यूहो गवां गाहते
विद्युत्वानिति नीलकण्ठनिवहो यां द्रष्टुमुत्कण्ठते।
उत्तंसाय तमालपल्लवमितिच्छिन्दन्ति यां गोपिकाः
कान्तिः कालियशासनस्य वपुषः सा पावनी पातु नः॥ ८९॥*
फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनं बर्हावतंसप्रियं
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरम्।
गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गोगोपसङ्घावृतं
गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे॥ ९०॥*
परमिममुपदेशमाद्रियध्वं निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु वल्लवीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्॥ ९१॥*
तमसि रविरिवोद्यन्मज्जतामम्बुराशौ
प्लव इव तृषितानां स्वादुवर्षीव मेघः।
निधिरिव निधनानां दीर्घतीव्रामयानां
भिषगिव कुशलं मे दातुमायाति शौरिः॥ ९२॥*

यमुना समझकर प्यासी गायोंका समूह जिसकी ओर दौड़ा जा रहा है, श्यामघटा समझकर मोरसमुदाय जिसे देखनेको उत्कण्ठित हो रहा है, तमालपत्र समझकर गोपियोंका समूह जिसे कर्णफूल बनानेके लिये लालायित हो रहा है ऐसी कालियदमनकारी श्रीकृष्णके शरीरकी पवित्र [दिव्य एवं अद्भुत] कान्ति हमारी रक्षा करे॥ ८९॥ जिनका मुखचन्द्र विकसित कमलके सदृश है, जिनको मोर-मुकुट अति प्रिय है, जिन्होंने वक्ष:स्थलपर श्रीवत्स-चिह्न और सुन्दर कौस्तुभमणि धारण किये हैं, जो पीताम्बरधारी एवं सुन्दर हैं, गोपाङ्गनाओंके नयनकमलोंसे जिनका सुन्दर शरीर सम्पूजित है, गौ और गोपियोंके समूहसे आवृत हैं, उन मधुर मुरलिका बजाते हुए दिव्य भूषणभूषित गोविन्दको मैं भजता हूँ॥ ९०॥ वेदके जंगलोंमें भटकते हुए अत्यन्त खेदसे खिन्न होनेवाले लोगो! मेरे इस उत्तम उपदेशका आदर करो, उस उपनिषदर्थ (परब्रह्म कृष्ण) को तुम गोपियोंके घरोंमें खोजो, वह वहाँ ओखलीमें बँधा हुआ है॥ ९१॥ भगवान् शौरि (कृष्ण) अँधेरेमें उगते हुए सूर्यके समान, समुद्रमें डूबते हुएको जहाजके समान, प्यासे पुरुषोंके लिये सुस्वाद जलवर्षी मेघके समान, निर्धनोंके लिये निधिके समान और पुराने असाध्य रोगियोंके लिये धन्वन्तरिके समान हमारे हितके लिये आते हैं॥ ९२॥

* श्रीलीलाशुकस्य २।२; ३।८४; २।२८; ३।९८।

चिकुरं बहुलं विरलभ्रमरं मृदुलं वचनं विपुलं नयनम्।
अधरं मधुरं ललितं वदनं चपलं चरितं च कदानुभवे॥ ९३॥*
मुग्धं स्निग्धं मधुरमुरलीमाधुरीधीरनादैः
कारं कारं करणविवशं गोकुलव्याकुलत्वम्।
श्यामं कामं युवजनमनोमोहनं मोहनाङ्गं
चित्ते नित्यं निवसतु महो वल्लवीवल्लभं नः॥ ९४॥*
देवकीतनयपूजनपूतः पूतनारिचरणोदकधूतः।
यद्यहं स्मृतधनञ्जयसूतः किं करिष्यति स मे यमदूतः॥ ९५॥*
अंसालम्बितवामकुण्डलधरं मन्दोन्नतभ्रूलतं
किञ्चित्कुञ्चितकोमलाधरपुटं साचिप्रसारेक्षणम्।
आलोलाङ्गुलिपल्लवैर्मुरलिकामापूरयन्तं मुदा
मूले कल्पतरोस्त्रिभङ्गललितं ध्यायेज्जगन्मोहनम्॥ ९६॥*
हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो
हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो।

[कृष्णके] घने और कुछ-कुछ घुँघराले केशोंका, मीठे-मीठे बोलका, विशाल नेत्रोंका, मधुर अधरोंका, मनोहर मुखका और चञ्चल चरित्रोंका मैं कब अनुभव करूँगा?॥ ९३॥ जो मनमोहन एवं स्नेहमय है, अपनी मनोहारिणी मुरलिकाकी मन्द रसीली तानसे, गोकुलको इन्द्रियविवश तथा व्याकुल कर रहा है, जो श्यामल, सुन्दर, युवकोंका चित्त चुरानेवाला और मनोहर रूपवाला है वह गोपियोंका प्रियतम तेज हमारे चित्तमें नित्य निवास करे॥ ९४॥ यदि देवकीनन्दनके पूजनसे मैं पवित्र हो गया हूँ तथा पूतना-निषूदनके चरणोदकसे मैं धुल गया हूँ और पार्थसारथिका मैंने सम्यक् स्मरण किया है तो बेचारे यमदूत मेरा क्या करेंगे?॥ ९५॥ जो कन्धेतक लटकते हुए सुन्दर कुण्डल धारण किये हुए हैं, जिनकी भृकुटि-लता कुछ ऊपरकी ओर तनी है, किञ्चित् सिकुड़े हुए अत्यन्त कोमल अधरपुट हैं, बाँकी और विशाल आँखें हैं तथा जो कल्पवृक्षके नीचे खड़े हुए अपनी सुकोमल अँगुलियोंको धीरे-धीरे फिराते हुए प्रसन्नमुखसे वंशी बजा रहे हैं, उन त्रिभङ्गललित जगन्मोहन श्यामसुन्दरका ध्यान करना चाहिये॥ ९६॥ हे देव! हे प्रियतम! हे एकमात्र जगद्बन्धो! हे कृष्ण! हे चपल! हे करुणासागर!

* श्रीलीलाशुकस्य १।६०; २।५०, २९, १०३।

हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम
हा हा कदानु भवितासि पदं दृशोर्मे॥ ९७ ॥*

वन्दे मुकुन्दमरविन्ददलायताक्षं
कुन्देन्दुशङ्खदशनं शिशुगोपवेषम्।
इन्द्रादिदेवगणवन्दितपादपीठं
वृन्दावनालयमहं वसुदेवसूनुम्॥ ९८ ॥†

जिह्वे कीर्तय केशवं मुररिपुं चेतो भज श्रीधरं
पाणिद्वन्द्वसमर्चयाच्युतकथां श्रोत्रद्वयं त्वं शृणु।
कृष्णं लोकय लोचनद्वय हरेर्गच्छाङ्घ्रियुग्मालयं
जिघ्र घ्राण मुकुन्दपादतुलसीं मूर्द्धन्नमाधोक्षजम्॥ ९९ ॥†

हे लोकाः शृणुत प्रसूतिमरणव्याधेश्चिकित्सामिमां
योगज्ञाः समुदाहरन्ति मुनयो यां याज्ञवल्क्यादयः।
अन्तर्ज्योतिरमेयमेकममृतं कृष्णाख्यमापीयतां
तत्पीतं परमौषधं वितनुते निर्वाणमात्यन्तिकम्॥ १०० ॥†

हे नाथ! हे रमण! हे नयनाभिराम श्याम! आपके चरणकमलोंका हमारे नेत्र कब दर्शन करेंगे?॥ ९७॥ जिनके कमलदलसदृश विशाल नेत्र हैं, कुन्द, चन्द्र अथवा शङ्खके सदृश दन्त हैं, बालगोपालका वेष है, इन्द्रादिक देवताओंके द्वारा जिनके चरणोंकी पादुकाएँ वन्दित हैं, उन वृन्दावननिवासी वसुदेवनन्दन मुकुन्दकी मैं वन्दना करता हूँ॥ ९८॥ हे जिह्वे! केशवका कीर्तन कर, चित्त! मुरारिको भज, युगल हस्त! श्रीधरकी अर्चना करो, हे दोनों कानो! तुम अच्युतकी कथा श्रवण करो, नेत्रो! कृष्णका दर्शन करो, युगलचरणो! भगवत्स्थानोंमें भ्रमण करो, अरी नासिके! मुकन्दचरणसेविता तुलसीकी गन्ध ले और हे मस्तक! भगवान् अधोक्षजके सामने झुक!॥ ९९॥ हे लोगो! जन्म-मरणरूप व्याधिकी इस चिकित्साको सुनो, जिसे याज्ञवल्कयादि योगवेत्ता मुनिजन बतलाते हैं, अन्तःकरणमें प्रकाशित होनेवाला जो कृष्ण-नाम अप्रमेय एवं अनामय अमृत है, उसका पान करो, वह परमौषधि पान करते ही आत्यन्तिक शान्तिका विस्तार करती है॥ १००॥

---

* श्रीलीलाशुकस्य १। ४० † श्रीमुकुन्दमालायां श्लो० १, २०, १५।

शत्रुच्छेदैकमन्त्रं सकलमुपनिषद्वाक्यसम्पूज्यमन्त्रं
संसारोच्छेदमन्त्रं समुचिततमसः सङ्घनिर्वाणमन्त्रम्।
सर्वैश्वर्यैकमन्त्रं व्यसनभुजगसंदष्टसंत्राणमन्त्रं
जिह्वे श्रीकृष्णमन्त्रं जप जप सततं जन्मसाफल्यमन्त्रम्॥ १०१॥*

व्यामोहप्रशमौषधं मुनिमनोवृत्तिप्रवृत्त्यौषधं
दैत्येन्द्रार्तिकरौषधं त्रिभुवने सञ्जीवनैकौषधम्।
भक्त्यात्यन्तहितौषधं भवभयप्रध्वंसनैकौषधं
श्रेयः प्राप्तिकरौषधं पिब मनः श्रीकृष्णदिव्यौषधम्॥ १०२॥*

शृण्वञ्जनार्दनकथागुणकीर्तनानि
देहे न यस्य पुलकोद्गमरोमराजिः।
नोत्पद्यते नयनयोर्विमलाम्बुमाला
धिक् तस्य जीवितमहो पुरुषाधमस्य॥ १०३॥*

अलमलमलमेका प्राणिनां पातकानां
निरसनविषये वा कृष्णकृष्णेति वाणी।
यदि भवति मुकुन्दे भक्तिरानन्दसान्द्रा
करतलकलिता सा मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीः॥ १०४॥*

शत्रुओंके विनाशका एकमात्र मन्त्र, सम्पूर्ण उपनिषद् वाक्योंमें पूज्य मन्त्र, भवबन्धनका उच्छेद करनेवाला मन्त्र, अज्ञानान्धकारके समूहको भगा देनेवाला मन्त्र, सम्पूर्ण ऐश्वर्योंका एकमात्र साधक मन्त्र, जन्मको सफल कर देनेवाला मन्त्र, व्यसनरूप सर्पोंसे डसे हुएकी रक्षाका मन्त्र जो श्रीकृष्णमन्त्र है उसको अरी जिह्वे! तू सदा जपा कर॥ १०१॥ मोहका नाश करनेवाली बूटी, मुनियोंकी मनोवृत्तिको प्रवृत्त करनेवाली बूटी, दैत्यराजोंके लिये दुःखदायिनी बूटी, त्रिभुवनके लिये एकमात्र सञ्जीवनबूटी, भक्तोंकी परमहितकारिणी बूटी, संसारके भयको हरण करनेवाली और कल्याणकी प्राप्ति करानेवाली जो श्रीकृष्णरूपी दिव्य बूटी है उसको अरे मन! नित्य पीता रह॥ १०२॥ भगवान्‌की कथा, गुण और कीर्तनादिको सुनते हुए जिसके देहमें रोमाञ्च नहीं होते और आँखोंसे निर्मल अश्रुधारा नहीं बहती ऐसे अधम पुरुषके जीवनको धिक्कार है!॥ १०३॥ जीवोंके पापोंको भगानेमें कृष्ण! कृष्ण! ऐसा एक बार बोलना ही पर्याप्त है, फिर यदि भगवान्‌में आनन्दघनमयी प्रेमभक्ति हो जाय तो मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मी हथेलीमें ही आ जाय॥ १०४॥

---

* श्रीमुकुन्दमालायां श्लो० ३१, ३२, ३५, ५१।

कृष्ण त्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्ते
अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः
कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते॥ १०५॥*

कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः।
जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम्॥ १०६॥†

सत्यं ब्रवीमि मनुजाः स्वयमूर्ध्वबाहु-
र्यो मां मुकुन्द नरसिंह जनार्दनेति।
जीवो जपत्यनुदिनं मरणे रणे वा
पाषाणकाष्ठसदृशाय ददाम्यभीष्टम्॥ १०७॥†

गोकोटिदानं ग्रहणेषु काशीप्रयागगङ्गायुतकल्पवासः।
यज्ञायुतं मेरुसुवर्णदानं गोविन्दनाम्ना न कदापि तुल्यम्॥ १०८॥†

वासुदेवं परित्यज्य येऽन्यं देवमुपासते।
तृषिता जाह्नवीतीरे कूपं वाञ्छन्ति दुर्भगाः॥ १०९॥†

हे कृष्ण! मेरा मनरूपी राजहंस आपके चरणारविन्दरूपी पींजड़ेमें आज ही प्रविष्ट हो जाय; क्योंकि प्राणविसर्जनके समय कफ, वात, पित्तादिसे कण्ठके रुक जानेपर आपका स्मरण भला कैसे होगा!॥ १०५॥ जो मुझको 'कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण!' ऐसा नित्य स्मरण करता है उसको मैं नरकसे ऐसे निकाल देता हूँ, जैसे जलका भेदन करके कमल अछूता निकल जाता है॥ १०६॥ हे मनुष्यो! मैं स्वयं हाथ उठाकर सत्य-सत्य कहता हूँ; जो जीव मुझको 'मुकुन्द! नरसिंह! जनार्दन!' इस प्रकार मरणसमयमें या रणमें भजता है, पाषाण अथवा काष्ठसदृश हुए भी उसको मैं अभीष्ट फल दे देता हूँ॥ १०७॥ ग्रहणमें करोड़ों गायोंका दान, काशी, प्रयाग आदि तीर्थोंमें गङ्गाके तटपर सहस्रों वर्षोंतक कल्पवास करना, हजारों यज्ञ करना, मेरुके बराबर सुवर्णका दान करना भी गोविन्दके नामस्मरणके बराबर कभी नहीं होता है॥ १०८॥ जो मूढ़ भगवान् वासुदेवको छोड़कर दूसरे देवताकी उपासना करता है वह मानो प्यासा होकर गङ्गाके तटपर कुआँ खोदता है॥ १०९॥

---

* मुकुन्दमालायां श्लो० ३३। † श्रीपाण्डवगीतायाम् ३६-३७, ४६, १७।

बिभ्रद्वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु।
तिष्ठन्मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन्नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग्बालकेलिः॥ ११०॥*
नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय॥ १११॥*
तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः॥ ११२॥*
समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद्विपदां न तेषाम्॥ ११३॥*
बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।

कमरके वस्त्रोंमें बाँसुरीको खोंसकर बगलमें सींग और बेंतको दबाये हुए, बायें हाथमें चिकने कलेवे और दाहिने हाथमें अंगुलियोंसे उसके ग्रासको लिये हुए अपने मित्रमण्डलीमें बैठकर हास्यमय वाक्योंसे उनको हँसाते हुए बालक्रीडापरायण यज्ञके भोक्ता भगवान् स्वर्गवासी देवताओंके देखते हुए भोजन करते थे॥ ११०॥ हे स्तवनीय! आपका घनश्याम शरीर है, बिजलीके सदृश पीतवस्त्र है, गुञ्जाओंके शिरोभूषण और मोरपंखसे आपका मुख सुशोभित रहता है, आप वनमालाधारी हैं, कलेवा, लकुट, नरसिंहा और बाँसुरीके चिह्नोंसे सुशोभित हैं—ऐसे कोमल चरणवाले गोपालनन्दन आपको नमस्कार करता हूँ॥ १११॥ रागादि तभीतक चोर हैं, घर तभीतक कारागार है और मोह तभीतक पाँवोंमें बेड़ी डालनेवाला है जबतक हे कृष्ण! ये मनुष्य आपके नहीं होते॥ ११२॥ जो मुरारिके पावन यशवाले पादपल्लवमयी नौकारूप महत्पदके आश्रित हैं, उनके लिये संसार-समुद्र गोखुरके सदृश हो जाता है, परमपद प्राप्त हो जाता है और पद-पदपर आनेवाली विपत्तियाँ नहीं रहतीं॥ ११३॥ जिनके सिरपर मोरमुकुट है, जिनका वेष नटवर है, जो कानोंमें कनेरके फूल पहने हैं, सुवर्णसदृश पीतवस्त्र धारण करते हैं, जिनके गलेमें वैजयन्तीकी माला है,

* श्रीमद्भा० १०। १३। ११; १०। १४। १, ३६, ५८।

रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन्गोपवृन्दै-
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः॥ ११४॥*
अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥ ११५॥*
आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहं जुषामपि मनस्युदियात्सदा नः॥ ११६॥*
अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननु विवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥ ११७॥*
नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥ ११८॥†

जिनके विमल यशका गोपियोंने गान किया है ऐसे भगवान् वेणुरन्ध्रोंको अपनी अधरसुधासे पूर्ण करते हुए गोपसमूहके साथ अपने चरण-चिह्नोंसे रम्य प्रतीत होनेवाले वृन्दावनमें प्रविष्ट हुए॥ ११४॥ अहो! इस असाध्वी पूतनाने अपने स्तनोंमें लगाये हुए कालकूटको जिसे मारनेकी इच्छासे पिलाकर भी धात्रीके लिये उचित पदको प्राप्त किया, उस परम दयालुके अतिरिक्त हम और किसकी शरणमें जायँ॥ ११५॥ [गोपियोंने कहा-] हे पद्मनाभ! पूर्ण ज्ञानी योगेश्वरोंके द्वारा हृदयमें चिन्तन करनेयोग्य आपका चरणारविन्द, जो संसारकूपमें गिरे हुए जीवोंके उद्धारका सहारा है, घरपर रहती हुई भी हमलोगोंके हृदयमें सदा प्रकट हो॥ ११६॥ हे सखियो! नेत्रवालोंके नेत्रका हम इससे बढ़कर कोई फल नहीं जानतीं, जिन्होंने ग्वालबालोंके साथ गौओंके पीछे जानेवाले दोनों व्रजराजकुमारोंके वेणु बजाते हुए प्रेमपूर्वक कटाक्ष करनेवाले वदनकी सौन्दर्यसुधाका पान एवं सेवन कर लिया है॥ ११७॥ विप्रकुलपालक और गो-ब्राह्मण-हितकारी देवको नमस्कार है, जगत्-प्रतिपालक गोविन्द श्रीकृष्णको बारंबार नमस्कार है॥ ११८॥

* श्रीमद्भा० १०। २१। ५; ३। २। २३; १०। ८२। ४९; १०। २१। ७।

† विष्णु पु० १। १९। ६५

गोविन्द द्वारिकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव॥११९॥*
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन॥१२०॥*
श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः कल्पतरवो
द्रुमो भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम्।
कथा गानं नाट्यं गमनमपि वंशी प्रियसखी
चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च॥१२१॥†
यस्यैकनिःश्वसितकालमथावलम्ब्य
जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः।
विष्णुर्महान्स इह यस्य कलाविशेषो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥१२२॥†
सान्द्रानन्दपुरन्दरादिदिविषद्वृन्दैरमन्दादरा-
दानप्रैर्मुकुटेन्द्रनीलमणिभिः सन्दर्शितेन्दीवरम्।

[द्रौपदीने कहा—] हे गोविन्द! हे द्वारकाके रहनेवाले, हे गोपीवल्लभ श्रीकृष्णचन्द्र! क्या आप मुझे कौरवोंके द्वारा अपमानित होती हुई नहीं जानते?॥ ११९॥ हे नाथ! हे लक्ष्मीपते! हे दुःखदलन व्रजराज! हे जनार्दन! इस कौरवोंकी सभारूपी समुद्रमें डूबती हुई मुझको बचाओ!॥ १२०॥ गोलोककी समस्त गोपियाँ लक्ष्मी-सी हैं, पतिरूपमें पुरुषोत्तम कृष्ण हैं, सभी वृक्ष कल्पद्रुम हैं, भूमि चिन्तामणिमयी है, जल अमृत है, वार्तालाप गान है, चलना-फिरना भी नृत्य है और वंशी, प्रिय सखियाँ तथा ज्योति आदि सभी चिदानन्दमय, उत्कृष्ट और आस्वादनीय ही है॥ १२१॥ जिसके एक श्वास लेनेतकके समयमें ही लोमकूपसे उत्पन्न हो समस्त लोकपाल जीवित रहते हैं वे महाविष्णु भी जिनकी एक कलाविशेष हैं, ऐसे आदिपुरुष गोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥ १२२॥ अत्यन्त आदरसे साष्टाङ्ग प्रणाम करते हुए, घन-आनन्दमें निमग्न इन्द्रादि देवगणोंके द्वारा उनके मुकुटके नीलमकी प्रभासे जो नीलकमलके समान दीखते हैं

---

* महा० सभा० ६८। ४१-४२।

† ब्रह्म सं० ५। ५६, ४८।

स्वच्छन्दं मकरन्दसुन्दरगलन्मन्दाकिनीमेदुरं
श्रीगोविन्दपदारविन्दमशुभस्यन्दाय वन्दामहे॥ १२३॥*

राधामुग्धमुखारविन्दमधुपस्त्रैलोक्यमौलिस्थली-
नेपथ्योचितनीलरत्नमवनीभारावतारक्षमः।
स्वच्छन्दव्रजसुन्दरीजनमनस्तोषप्रदोषश्चिरं
कंसध्वंसनधूमकेतुरवतु त्वां देवकीनन्दनः॥ १२४॥*

वेदानुद्धरते जगन्ति वहते भूगोलमुद्बिभ्रते
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
म्लेच्छान् मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः॥ १२५॥*

रासे चञ्चलतां गतस्य ललनावृन्दस्य मध्ये हरी
राजत्येष कथं भवेदुपमितिस्तादृङ् न भावो भुवि।
चेत्स्याच्चञ्चलता गता विपुलता विद्युत्सु संनर्तनं
तन्मध्ये जलदस्य नर्तनमतिः शोभा भवेत्तादृशी॥ १२६॥†

तथा मकरन्दसमान गङ्गासे भीगे रहते हैं उन गोविन्दके चरणारविन्दोंको अपने अशुभके नाश (कल्याण-प्राप्ति) के लिये हम स्वेच्छासे प्रणाम करते हैं॥ १२३॥ जो श्रीराधिकाजीके मनोहर मुखारविन्दके भ्रमर, तीनों लोकोंके मस्तककी आभूषणोचित नीलमणि, भूभार हटानेमें समर्थ, स्वच्छन्द व्रजबालाओंके मनको सन्तोष देनेवाले सायंकालरूप और कंसको नाश करनेमें अग्निस्वरूप हैं, ऐसे देवकीनन्दन तुम्हारी रक्षा करें॥ १२४॥ [मत्स्यरूप होकर] वेदोंका उद्धार करनेवाले, [कच्छप होकर] संसारका भार ढोनेवाले, [वाराह होकर] पृथ्वीको पातालसे लानेवाले, [नृसिंह होकर] हिरण्यकशिपु दैत्यको मारनेवाले, [वामन होकर] बलिको छलनेवाले, [परशुराम होकर] क्षत्रियोंका नाश करनेवाले, [राम होकर] रावणको जीतनेवाले, [बलराम होकर] हलको धारण करनेवाले, [बुद्ध होकर] करुणाका विस्तार करनेवाले तथा [कल्कि होकर] म्लेच्छोंका नाश करनेवाले; इस प्रकार दस अवतार धारण करनेवाले आप कृष्णभगवान्‌को नमस्कार है॥ १२५॥ रासक्रीडामें नृत्य करती हुई अत्यन्त चञ्चल रमणियोंके बीच ये भगवान् श्रीकृष्ण [नृत्य करते हुए] शोभा पा रहे हैं, इनकी उपमा कैसे दी जाय? संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है [जिससे उपमा हो], यदि आकाशमें कुछ देर चञ्चलताको छोड़कर बिजली स्थिर हो और उसके बीचमें श्यामसेघ [अनेक रूप धारण करके] नृत्य करे तो वैसी शोभा हो सकती है॥ १२६॥

---

* श्रीजयदेवस्य गीतगोविन्दात्। † पं० शारदाप्रसादसतीर्थस्य श्रीकृष्णशार्दूलिन्याः।

श्रीकृष्णस्य मनोज्ञनादमुरलीं विम्बाधरं श्रीमुखं
सम्पूर्णाकृतिमच्छशाङ्कललितं हृत्कौस्तुभाध्यासितम्।
पादौ नूपुरमञ्जुशिञ्जितनमत्कैवल्यनिन्दाक्षम-
स्वादौ तप्तसुवर्णकान्तिवसनं साक्षात्करिष्ये कदा॥१२७॥*

श्रीकृष्ण श्याम राधाधव यदुनृपते यामुनप्रान्तचारिन्
वृन्दारण्यैकवासिन्मधुरशशिमुख स्निग्धमूर्ते व्रजेश।
वंशीवाद्योचित स्त्रग्भरपरिमलयुक् पिच्छइक्रान्तचूड
प्रत्यङ्गश्रीनिवास प्रदिश मनसि मे स्वीयभक्तिप्रकाशम्॥१२८॥*

कालिन्दीकूलकेलिः कलितकुमुदिनीकान्तकान्तिः कृपालुः
केशिक्रान्तासुकर्षी वककुलकलनः कालियाकालनोत्कः।
काव्याङ्कक्रान्तकर्मा कुरुकुलकषणः कालकण्ठीकृताङ्गः
कृष्णः कारुण्यकर्मा भवतु मयि कृपादृष्टिरक्लिष्टकर्मा॥१२९॥*

इदानीमङ्गमक्षालि रचितं चानुलेपनम्।
इदानीमेव ते कृष्ण धूलीधूसरितं वपुः॥१३०॥†

श्रीकृष्णकी मधुर स्वरभरी वंशी बिम्बके समान लाल ओठोंवाला और पूर्णचन्द्रकी कान्तिसे युक्त सुन्दर मुख, कौस्तुभमणिसे चमकता हुआ वक्षःस्थल, नूपुरोंकी मधुर झनकारसे दबते हुए मोक्षपदको भी फीका करनेवाले स्वादसे युक्त चरणयुगल और तपाये हुए सोनेकी कान्तिके समान पीताम्बर—इनका मैं कब प्रत्यक्ष दर्शन करूँगा॥ १२७॥ हे श्रीकृष्ण, श्यामसुन्दर, राधावल्लभ, यदुनाथ, यमुनातीरविहारी, एकमात्र वृन्दावनमें निवास करनेवाले माधुर्यमय चन्द्रके समान मुखवाले, स्निग्ध स्वरूपवाले व्रजेश्वर! हे वंशी टेरनेमें मग्न, मालाओंकी सुगन्धसे युक्त, मोरपंखसे आच्छन्न मस्तकवाले और अङ्ग-अङ्गमें लक्ष्मीके निवासभूत हे श्रीकृष्ण! मेरे हृदयमें अपनी भक्तिका प्रकाश फैलाइये॥ १२८॥ यमुनातीरपर क्रीडा करनेवाले, चन्द्रकान्तिसे युक्त, दयालु, केशिदैत्यके बल और प्राणोंको हरनेवाले, वककुलके नाशक, कालियनागको उत्साहपूर्वक दण्ड देनेवाले, काव्य और नाटकोंमें वर्णित चरित्रवाले, कौरवोंके संहारक, हरिहरस्वरूप, करुणापूर्ण कर्म करनेवाले और अनायास ही सब कार्योंके कर्ता कृष्ण मुझपर कृपादृष्टि करें॥ १२९॥ [मैया यशोदा बोलीं—] अरे कन्हैया! अभी तुझे स्नान कराकर चन्दनादिलेपन किया और अभी-का-अभी तेरा शरीर धूलिधूसरित हो गया?॥ १३०॥

* पं० शारदाप्रसादसप्ततीर्थस्य श्रीकृष्णशार्दूलिन्याः। † सार्वभौमवासुदेवभट्टाचार्यस्य।

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥ १३१॥*

कृष्ण त्वं पठ किं पठामि ननु रे शास्त्रं किमु ज्ञायते
तत्त्वं कस्य विभोः स कस्त्रिभुवनाधीशश्च तेनापि किम्।
ज्ञानं भक्तिरथो विरक्तिरनया किं मुक्तिरेवास्तु ते
दध्यादीनि भजामि मातुरुदितं वाक्यं हरेः पातु वः॥ १३२॥†

नवनीलमेघरुचिरः परः पुमानवनीमवाप्य धृतगोपविग्रहः।
महनीयकीर्तिरमरैरपि स्वयं नवनीतभिक्षुरधुना स चिन्त्यते॥ १३३॥†

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्दविरहेण मे॥ १३४॥‡

अयि नन्दतनूज किङ्करं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।
कृपया तव पादपङ्कजस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय॥ १३५॥‡

न मैं ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय हूँ, न वैश्य हूँ और न शूद्र ही हूँ, मैं न ब्रह्मचारी हूँ, न गृहस्थ हूँ, न वानप्रस्थ हूँ और न संन्यासी हूँ, किन्तु सम्पूर्ण परमानन्दमय अमृतके उमड़ते हुए महासागररूप गोपीकान्त श्यामसुन्दरके चरणकमलोंके दासोंका दासानुदास हूँ॥ १३१॥ [यशोदा मैया बोली—] 'रे कन्हैया! तू पढ़' [कृष्ण—] 'क्या पढ़ूँ?' 'अरे! शास्त्र पढ़', 'उससे क्या जाना जायगा?' 'तत्त्व', 'किसका?' 'परमात्माका', 'वह कौन है?' 'त्रिभुवनपति है', 'उससे क्या लाभ होगा?' 'ज्ञान, भक्ति और वैराग्यकी प्राप्ति होगी', 'इनसे क्या होगा?' 'मुक्ति', 'तब तो यह तेरी ही हो! मैं तो दही-रोटी ही लेना चाहता हूँ;' माताके प्रति इस प्रकार कहे हुए भगवान् कृष्णके वाक्य आपकी रक्षा करें॥ १३२॥ जिसने पृथ्वीतलमें आकर नवीन नील मेघके समान श्यामसुन्दर गोपवेश धारण किया; और जिसकी कीर्ति देवताओंद्वारा भी प्रशंसित हुई उसी माखनकी याचना करनेवाले परमपुरुषका मैं इस समय ध्यान करता हूँ॥ १३३॥ गोविन्दके विरहसे आज मेरे लिये क्षण युगके समान प्रतीत होता है, आँखें पावस-ऋतु-सी अश्रुवर्षा कर रही हैं और सारा संसार सूना-सा जान पड़ता है॥ १३४॥ हे नन्दनन्दन! इस विषम संसारसागरमें गिरे हुए मुझ दासको अपने चरणारविन्दोंपर पड़ी हुई धूलिके सदृश जानकर कृपया सुधि लीजिये॥ १३५॥

* सार्वभौमवासुदेवभट्टाचार्यस्य † बिल्वमङ्गलश्रीचरणानाम्। ‡ शिक्षाष्टकात्।

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥ १३६ ॥*
ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते ।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति ॥ १३७ ॥*
चिदानन्दाकारं जलदरुचि सारं श्रुतिगिरां
व्रजस्त्रीणां हारं भवजलधिपारं कृतधियाम् ।
विहन्तुं भूभारं विदधदवतारं मुहुरहो
महो बारम्बारं भजत कुशलारम्भकृतिनः ॥ १३८ ॥*
चर्वयत्यनिशं मर्म मम मायानिशाचरी ।
क्वासि हे पूतनाघातिन् मायाकुहकनाशक ॥ १३९ ॥†

जिनके करकमल वंशीसे विभूषित हैं, जिनकी नवीन मेघकी-सी आभा है, जिनके पीत वस्त्र हैं, अरुण बिम्बफलके समान अधरोष्ठ हैं; पूर्णचन्द्रके सदृश सुन्दर मुख और कमलके-से नयन हैं ऐसे भगवान् श्रीकृष्णको छोड़कर अन्य किसी भी तत्त्वको मैं नहीं जानता ॥ १३६ ॥ ध्यानाभ्याससे मनको स्ववश करके योगीजन यदि किसी प्रसिद्ध निर्गुण निष्क्रिय परमज्योतिको देखते हैं तो वे उसे भले ही देखें; परन्तु हमारे लिये तो श्रीयमुनाजीके तटपर जो [कृष्णनामवाली] वह अलौकिक नील ज्योति दौड़ती फिरती है, वही चिरकालतक लोचनोंको चकाचौंधमें डालनेवाली हो ॥ १३७ ॥ हे कल्याणमय आरम्भ करनेवाले कार्यकुशल लोगों! जो चिदानन्दस्वरूप है, मेघके सदृश कान्तिवाला है, श्रुतियोंका सार है, व्रजबालाओंके गलेका हार है, बुधजनोंके लिये संसारसमुद्रके पार करनेका एकमात्र साधन है और पृथ्वीके समस्त भार हरण करनेके लिये जिसने बारंबार अवतार धारण किये हैं उसी परमात्मतेजका बारंबार भजन करो ॥ १३८ ॥ हे मायाछद्मविनाशिन्, पूतनानिषूदन, कृष्ण! तुम कहाँ हो? यह मायारूपिणी निशाचरी रात-दिन मेरे मर्मस्थानोंको चबाये डालती है ॥ १३९ ॥

* श्रीमधुसूदनसरस्वतीस्वामिनः । † श्रीताराकुमारस्य ।

त्वं पापितारकः कृष्ण भवसागरनाविकः।
त्राहि मां भवभीमाब्धेस्तवैव शरणागतम्॥ १४०॥*
किं करोमि क्व गच्छामि कं वा शरणमाश्रये।
विमुखे त्वयि गोविन्द हा हा पापी हतो हतः॥ १४१॥*
रे रे मानसभृङ्ग मा कुरु मुधा झङ्कारकोलाहलं
निःशब्दं हरिपादफुल्लकमले माध्वीकमास्वादय।
तस्मिन् सर्वतृषापहारिरिणि चिदानन्दे मरन्दे सकृ-
न्निष्पीते क्व नु ते प्रयास्यति लयं साहङ्कृतिर्झङ्कृतिः॥ १४२॥*
येषां श्रीमद्यशोदासुतपदकमले नास्ति भक्तिर्नराणां
येषामाभीरकन्याप्रियगुणकथने नानुरक्ता रसज्ञा।
येषां श्रीकृष्णलीलाललितरसकथासादरौ नैव कर्णौ
धिक्तान्धिक्तान्धिगेतान्कथयति नियतं कीर्तनस्थो मृदङ्गः॥ १४३॥†
जीर्णा तरी सरिति नीरगभीरधारा
बाला वयं सकलमित्थमनर्थहेतुः।

हे कृष्ण! तुम पापियोंके तारनेवाले हो और भवसागरके चतुर नाविक हो। अब तुम्हारी ही शरणमें आये हुए मुझे संसाररूप भयङ्कर समुद्रसे पार करो॥ १४०॥ हे गोविन्द! हा! आपके विमुख होनेके कारण मैं पापी नष्ट हो रहा हूँ। अब मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? किसकी शरण लूँ॥ १४१॥ अरे मनमधुप! व्यर्थ झङ्कारमय कोलाहल मत कर, मौन होकर हरिके चरणरूपी विकसित कमलके मकरन्दका आस्वादन कर। सबकी प्यास बुझानेवाले उस चिदानन्दमय मकरन्दका एक बार भी पान कर लेनेपर तेरी यह अहङ्कारसहित झनकार न जाने कहाँ विलीन हो जायगी?॥ १४२॥ जिन मनुष्योंकी यशोदानन्दनके चरण-कमलोंमें भक्ति नहीं है, जिनकी रसना गोपकुमारियोंके प्राणाधार (श्रीकृष्ण) के गुणगानमें अनुरागिणी नहीं है और जिनके कर्ण अति ललित श्रीकृष्णकथामृतके प्यासे नहीं हैं, उनके लिये कीर्तनमें बजता हुआ मृदङ्ग 'धिक् तान्, धिक् तान् धिगेतान्' (उन्हें धिक्कार है! धिक्कार है! धिक्कार है)—ऐसा कहता है॥ १४३॥ नौका जीर्ण-शीर्ण है, नदीकी जलधारा बड़ी गम्भीर है, हम भी अभी बालिकाएँ ही हैं—इस प्रकार ये सब अनर्थके कारण हैं,

* श्रीताराकुमारस्य। † श्रीधरस्य व्रजविहारात्; केषाञ्चिन्मते अयं श्लोकः श्रीवाणेश्वरविद्यालङ्कारस्य।

विश्वासबीजमिदमेव कृशोदरीणां
यन्माधवस्त्वमसि सम्प्रतिकर्णधारः ॥ १४४ ॥*

श्रीकृष्णनामा जयतीह शश्वत् कश्चित्स सच्चिन्मयनीलिमा मे।
यत्रानुरक्तं धवलत्वमेति स्थैर्यं च चित्तं मलिनं चलं च ॥ १४५ ॥†

नमस्तस्मै परेशाय कृष्णायाद्भुतकर्मणे।
धूलिधूसरिताङ्गाय नमस्तैजसमूर्तये ॥ १४६ ॥‡

नमः श्रीद्वारकेशाय गाश्च चारयते नमः।
राजराजेश्वरायाथ पार्थसारथये नमः ॥ १४७ ॥‡

नमोऽस्तु भीष्मभीष्माय प्रह्लादाह्लादकाय च।
पर सहस्रपत्नीभिः सेविताय जितात्मने ॥ १४८ ॥‡

क्वायं क्षुद्रमतिर्दासः क्व स्वामी गुणवारिधिः।
मुहुर्मुहुर्निमग्नं मां क्षमस्व करुणानिधे ॥ १४९ ॥‡

इस समय हम अबलाओंको केवल इतना ही भरोसा है कि हे माधव! हमारे कर्णधार आप हैं ॥ १४४ ॥ सत् और चिद्रूप नीलिमा ही जिसका स्वरूप है ऐसा श्रीकृष्ण नामक कोई विलक्षण वर्ण इस जगत्‌में सदा विजयी हो रहा है, जिसमें अनुरक्त होने (रँग जाने) पर मेरा मलिन और चञ्चल मन भी उज्ज्वल एवं स्थिर हो रहा है ॥ १४५ ॥ जिन नन्दनन्दनके अङ्ग धूलिधूसरित होते हुए भी परम तेजोमय हैं, उन अद्भुतकर्मशाली श्रीकृष्ण भगवान्‌को नमस्कार है ॥ १४६ ॥ द्वारकाधीश होकर भी जो गौओंके चरानेवाले हैं तथा राजराजेश्वर होते हुए भी जो पार्थके सारथी बने हैं [उन अद्भुतकर्मा] परमेश्वर भगवान्‌को नमस्कार है ॥ १४७ ॥ बड़े-बड़े वीरोंके भी दिलको दहलानेवाले [नृसिंहरूप] होकर भी जो बालक प्रह्लादको आनन्दित करनेवाले हैं तथा सोलह हजार पत्नियोंसे सेवित होनेपर भी जो जितेन्द्रिय हैं, ऐसे [अद्भुतकर्मा] भगवान् कृष्णको नमस्कार है ॥ १४८ ॥ भला, कहाँ तो यह तुच्छ बुद्धिवाला दास और कहाँ आप-सरीखे गुण-सागर स्वामी? हे दयानिधे! आपके गुण-समुद्रमें बार-बार गोता लगानेवाले मुझ किङ्करका अपराध आप क्षमा करें ॥ १४९ ॥

* श्रीधरस्य व्रजविहारात्।

† पाण्डेयरामनारायणदत्तशास्त्रिणः।

‡ श्रीशिवप्रकाशस्य कृष्णाद्भुतस्तोत्रात्।

शुद्ध्यति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमृते।
वसनमिव क्षारोदैर्भक्त्या प्रक्षाल्यते चेतः॥ १५०॥*
यद्वत्समलादर्शे सुचिरं भस्मादिना शुद्धे।
प्रतिफलति वक्त्रमुच्चैः शुद्धे चित्ते तथा ज्ञानम्॥ १५१॥*
स्थूला सूक्ष्मा चेति द्वेधा हरिभक्तिरुद्दिष्टा।
प्रारम्भे स्थूला स्यात्सूक्ष्मा तस्याः सकाशाच्च॥ १५२॥*
स्वाश्रमधर्माचरणं कृष्णप्रतिमार्चनोत्सवो नित्यम्।
विविधोपचारकरणैर्हरिदासैः सङ्गमः शश्वत्॥ १५३॥*
कृष्णकथासंश्रवणे महोत्सवः सत्यवादश्च।
परयुवतौ द्रविणे वा परापवादे पराङ्मुखता॥ १५४॥*
ग्राम्यकथासूद्वेगः सुतीर्थगमनेषु तात्पर्यम्।
यदुपतिकथावियोगे व्यर्थं गतमायुरिति चिन्ता॥ १५५॥*
एवं कुर्वति भक्तिं कृष्णकथानुग्रहोत्पन्ना।
समुदेति सूक्ष्मभक्तिर्यस्या हरिरन्तराविशति॥ १५६॥*

श्रीकृष्णचरणारविन्दोंकी भक्तिरूपी अमृतके बिना चित्त शुद्ध नहीं होता। भक्तिसे चित्त उसी प्रकार स्वच्छ हो जाता है जिस प्रकार क्षारयुक्त जलके द्वारा धोनेसे वस्त्र॥ १५०॥ जिस प्रकार भस्म आदिके द्वारा चिरकालतक शुद्ध किये गये निर्मल दर्पणमें मुखका प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखलायी देने लगता है उसी प्रकार शुद्ध चित्तमें ज्ञानका प्रादुर्भाव होता है॥ १५१॥ हरिकी भक्ति दो प्रकारकी कही गयी है—स्थूल और सूक्ष्म। प्रारम्भमें स्थूल होती है और फिर उसीसे सूक्ष्म हो जाती है॥ १५२॥ अपने वर्णाश्रमधर्मका आचरण, अनेक उपचारोंसे नित्य श्रीकृष्णप्रतिमाका पूजनोत्सव और हरिजनोंका निरन्तर सङ्ग करना, श्रीकृष्णचन्द्रकी कथाके श्रवणमें महान् उत्सव मानना, सत्य-भाषण, पर-स्त्री, परधन और पर-निन्दासे विमुख रहना, विषयवार्तामें उद्वेग, तीर्थयात्रामें तत्परता, 'श्रीकृष्णकथाके बिना व्यर्थ इतनी आयु चली गयी'—ऐसी चिन्ता; इस प्रकारसे भक्तिका साधन करते-करते श्रीकृष्णकथाकी कृपासे सूक्ष्मा भक्तिका उदय होता है, जिसके भीतर श्रीहरिका प्रवेश होता है॥ १५३—१५६॥

* श्रीशंकराचार्यस्य प्रबोधसुधाकरात् १६७, १६८, १७१, १७२, १७३, १७४, १७५।

स्मृतिसत्पुराणवाक्यैर्यथाश्रुतायां हरेर्मूर्तौ।
मानसपूजाभ्यासो विजननिवासेऽपि तात्पर्यम्॥ १५७॥*
सत्यं समस्तजन्तुषु कृष्णस्यावस्थितेर्ज्ञानम्।
अद्रोहो भूतगणे ततस्तु भूतानुकम्पा स्यात्॥ १५८॥*
प्रमितयदृच्छालाभे सन्तुष्टिर्दारपुत्रादौ।
ममताशून्यत्वमतो निरहङ्कारत्वमक्रोधः॥ १५९॥*
मृदुभाषिता प्रसादो निजनिन्दायां स्तुतौ समता।
सुखदुःखशीतलोष्णद्वन्द्वसहिष्णुत्वमापदो न भयम्॥ १६०॥*
निद्राहारविहारेष्वनादरः सङ्गराहित्यम्।
वचने चानवकाशः कृष्णस्मरणेन शाश्वती शान्तिः॥ १६१॥*
केनापि गीयमाने हरिगीते वेणुनादे वा।
आनन्दाविर्भावो युगपत्स्याद्धृष्टसात्त्विकोद्रेकः॥ १६२॥*
तस्मिन्ननुभवति मनः प्रगृह्यमाणं परात्मसुखम्।
स्थिरतां याते तस्मिन् याति मदोन्मत्तदन्तिदशाम्॥ १६३॥*
जन्तुषु भगवद्भावं भगवति भूतानि पश्यति क्रमशः।
एतादृशी दशा चेत्तदैव हरिदासवर्यः स्यात्॥ १६४॥*

स्मृति और सत्पुराणोंके वचनोंसे श्रीहरिकी जैसी मूर्ति सुनी है, उसकी मानसपूजाका अभ्यास, निर्जन स्थानमें रहनेकी लगन, सत्य, सब प्राणियोंमें श्रीकृष्णकी स्थितिका ज्ञान और जीवोंके प्रति निर्वैरता—इन साधनोंसे प्राणियोंपर दयाभाव उत्पन्न हो जाता है॥ १५७-१५८॥ थोड़े-से यदृच्छालाभमें सन्तोष, स्त्री-पुत्र आदिमें ममताका अभाव, निरहंकारता, अक्रोध, मृदुभाषण, प्रसन्नता, अपनी निन्दा और स्तुतिमें समानता, सुख-दुःख एवं शीतोष्णादि द्वन्द्वोंमें सहनशीलता, विपत्तिमें निर्भयता, निद्रा तथा आहार-विहारादिमें अनादर, आसक्तिहीनता व्यर्थ वचनके लिये अनवकाश (समय न मिलना), श्रीकृष्णस्मरणसे स्थिर शान्ति; किसी पुरुषने श्रीहरिका गीत गाया हो या मुरली बजायी हो तो उसे सुनते ही तत्क्षण आनन्दका आविर्भाव और सात्त्विक हर्षका उल्लास—ऐसे अनुभवसे मन जब परमात्मसुखको ग्रहण करके स्थिर हो जाता है तब [प्रेमवश] उसकी दशा मदमत्त गजराजकी-सी हो जाती है और वह सब जीवोंमें भगवद्भावको और क्रमसे भगवान्में सब जीवोंको देखता है; जब ऐसी दशा हो जाय तभी वह श्रेष्ठ हरिदास होता है॥ १५९—१६४॥

---

* श्रीशंकराचार्यस्य प्रबोधसुधाकरात् १७६, १७७, १७८, १७९, १८०, १८१, १८२, १८३।

यमुनातटनिकटस्थितवृन्दावनकानने महारम्ये।
कल्पद्रुमतलभूमौ चरणं चरणोपरि स्थाप्य॥ १६५ ॥*
तिष्ठन्तं घननीलं स्वतेजसा भासयन्तमिह विश्वम्।
पीताम्बरपरिधानं चन्दनकर्पूरलिप्तसर्वाङ्गम्॥ १६६ ॥*
आकर्णपूर्णनेत्रं कुण्डलयुगमण्डितश्रवणम्।
मन्दस्मितमुखकमलं सुकौस्तुभोदारमणिहारम्॥ १६७ ॥*
वलयाङ्गुलीयकाद्यानुज्ज्वलयन्तं स्वलङ्कारान्।
गलविलुलितवनमालं स्वतेजसापास्तकलिकालम्॥ १६८ ॥*
गुञ्जारवालिकलितं गुञ्जापुञ्जान्विते शिरसि।
भुञ्जानं सह गोपैः कुञ्जान्तरवर्तिनं हरिं स्मरत॥ १६९ ॥*
मन्दारपुष्पवासितमन्दानिलसेवितं परानन्दम्।
मन्दाकिनीयुतपदं नमत महानन्ददं महापुरुषम्॥ १७० ॥*

यमुनातटके निकट स्थित वृन्दावनके अति रमणीय किसी काननमें कल्पवृक्षके तले चरणपर चरण रखकर पृथ्वीपर बैठे हुए जो मेघके समान श्यामवर्ण हैं, अपने तेजसे विश्वको प्रकाशित कर रहे हैं, पीताम्बर धारण किये हुए हैं; चन्दनकर्पूरसे जिनका सम्पूर्ण शरीर लिप्त हो रहा है, जिनके नेत्र कानोंतक पहुँचे हुए हैं, दो कुण्डलोंसे जिनके दोनों कान अलंकृत हैं; जिनका मुखकमल मन्दहाससे युक्त है, जो कौस्तुभमणिसे युक्त सुन्दर हार पहिने हुए हैं, जो अपने प्रकाशसे कङ्कण, अंगूठी आदि सुन्दर आभूषणोंको सुशोभित कर रहे हैं, जिनके गलेमें वनमाला लटक रही है, अपने तेजसे जिन्होंने कलिकालका निरास कर दिया है, गुञ्जापुञ्जसे युक्त जिनके सिरपर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं, किसी कुञ्जके अंदर बैठकर गोपोंके साथ भोजन करते हुए ऐसे श्रीहरिका स्मरण करो। जो कल्पवृक्षके पुष्पोंकी गन्धसे युक्त मन्द पवनसे सेवित हैं, गङ्गाजी जिनके चरणकमलोंमें स्थित हैं, जो महानन्दके दाता हैं, ऐसे परमानन्दस्वरूप महापुरुषको नमस्कार करो॥ १६५—१७० ॥

---

* श्रीशंकराचार्यस्य प्रबोधसुधाकरात् १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, १८९।

सुरभीकृतदिग्वलयं सुरभिशतैरावृतं सदा परितः।
सुरभीतिक्षपणमहासुरभीमं यादवं नमत॥ १७१॥*
कन्दर्पकोटिसुभगं वाञ्छितफलदं दयार्णवं कृष्णम्।
त्यक्त्वा कमन्यविषयं नेत्रयुगं द्रष्टुमुत्सहते॥ १७२॥*
पुण्यतमामतिसुरसां मनोऽभिरामां हरेः कथां त्यक्त्वा।
श्रोतुं श्रवणद्वन्द्वं ग्राम्यं कथमादरं वहति॥ १७३॥*
दौर्भाग्यमिन्द्रियाणां कृष्णे विषये हि शाश्वतिके।
क्षणिकेषु पापकरणेष्वपि सज्जन्ते यदन्यविषयेषु॥ १७४॥*
भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयः सच्चिदानन्दः।
प्रकृतेः परः परात्मा यदुकुलतिलकः स एवायम्॥ १७५॥*
साक्षाद्यथैकदेशे वर्तुलमुपलभ्यते रवेर्बिम्बम्।
विश्वं प्रकाशयति तत्सर्वैः सर्वत्र दृश्यते युगपत्॥ १७६॥*

दसों दिशाओंको जिन्होंने सुरभित कर दिया है, सुरभि-(कामधेनु-) सदृश सैकड़ों गायोंने जिन्हें चारों ओरसे घेर रखा है, देवताओंके भयको दूर करनेवाले और महान् असुरोंको भयदायक उन यदुकुलनायक श्रीकृष्णको नमस्कार करो॥ १७१॥ जो करोड़ों कामदेवोंसे भी सुन्दर हैं; वाञ्छित फलके दाता हैं, उन दयासागर श्रीकृष्णको छोड़कर ये युगल नेत्र और किस विषयका दर्शन करनेको उत्सुक हैं?॥ १७२॥ अति पवित्र, अति सुन्दर और सरस हरिकथाको छोड़कर ये कर्णयुगल संसारी पुरुषोंकी चर्चा सुननेको क्यों श्रद्धा प्रकट करते हैं?॥ १७३॥ सदा विद्यमान श्रीकृष्णरूपी विषयके होते हुए भी पापके साधन अन्य क्षणिक विषयोंमें जो इन्द्रियाँ आसक्त होती हैं, वह इनका दुर्भाग्य ही है॥ १७४॥ जो ज्ञानस्वरूप, सच्चिदानन्द प्रकृतिसे परे, परमात्मा एवं सर्वभूतोंका अन्तर्यामी है; वही ये यदुकुलतिलक (श्रीकृष्ण) हैं॥ १७५॥ जिस प्रकार सूर्यका गोलाकार मण्डल साक्षात् एक देशमें ही देखा जाता है, पर वह समस्त विश्वको प्रकाशित करता है और एक ही कालमें सब जगह सब पुरुषोंको दिखलायी देता है,

---

* श्रीशंकराचार्यस्य प्रबोधसुधाकरात् १९०, १९१, १९२, १९३, १९५, १९९।

यद्यपि साकारोऽयं तथैकदेशी विभाति यदुनाथः।
सर्वगतः सर्वात्मा तथाप्ययं सच्चिदानन्दः॥ १७७॥*

ब्रह्माण्डानि बहूनि पङ्कजभवान् प्रत्यण्डमत्यद्भुतान्
गोपान्वत्सयुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः।
शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्तित्रयात्
कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा॥ १७८॥*

कृपापात्रं यस्य त्रिपुररिपुरम्भोजवसतिः
सुता जह्नोः पूता चरणनखनिर्णेजनजलम्।
प्रदानं वा यस्य त्रिभुवनपतित्वं विभुरपि
निदानं सोऽस्माकं जयति कुलदेवो यदुपतिः॥ १७९॥*

नित्यानन्दसुधानिधेरधिगतः सन्नीलमेघः सता-
मौत्कण्ठ्यप्रबलप्रभञ्जनभरैराकर्षितो वर्षति।
विज्ञानामृतमद्भुतं निजवचोधाराभिराराददिदं
चेतश्चातक चेन्न वाञ्छसि मृषा क्रान्तोऽसि सुप्तोऽसि किम्॥ १८०॥*

[उसी प्रकार] यद्यपि ये श्रीयदुनाथ साकार और एकदेशी प्रतीत होते हैं, तथापि ये सर्वगत, सर्वात्मा और सच्चिदानन्द हैं॥ १७६-१७७॥ जिसने ब्रह्माजीको अनेक ब्रह्माण्ड और प्रत्येक ब्रह्माण्डमें पृथक्-पृथक् अति विचित्र ब्रह्मा, गोवत्सोंसहित गोप और अनन्त विष्णु दिखलाये तथा जिसके चरणोदकको शिवजी अपने शिरपर धारण करते हैं, वह श्रीकृष्ण मूर्तित्रय (ब्रह्मा, विष्णु और महादेव) से पृथक् कोई सच्चिन्मयी निर्विकार नीलिमा है॥ १७८॥ शिव और ब्रह्मा जिसके कृपापात्र हैं, जाह्नवी जिसके चरणनखकी धोवन है, त्रिलोकीका राज्य जिसका दान है, हम सबके आदिकारण, व्यापक और कुलदेव, उस यदुनाथ श्रीकृष्णकी जय हो॥ १७९॥ नित्यानन्दरूपी अमृतके समुद्रसे सत्पुरुषोंकी उत्कण्ठारूपी प्रबल वायुके द्वारा खींच लाया हुआ सुन्दर नीलमेघ तेरे निकट ही अपने वचनकी धारा (श्रीगीता) से अद्भुत विज्ञानामृतकी वर्षा कर रहा है। अरे चित्तरूपी पपीहे! यदि तू उसे वृथा ही नहीं चाहता [तो इसमें कारण क्या है?] क्या तुझे किसीने पकड़ लिया है अथवा तू सो रहा है॥ १८०॥

---

* श्रीशंकराचार्यस्य प्रबोधसुधाकरात् २००, २४२, २४३, २४७।

चेतश्चञ्चलतां विहाय पुरतः संधाय कोटिद्वयं
तत्रैकत्र निधेहि सर्वविषयानन्यत्र च श्रीपतिम्।
विश्रान्तिर्हितमप्यहो क्व नु तयोर्मध्ये तदालोच्यतां
युक्त्या वानुभवेन यत्र परमानन्दश्च तत्सेव्यताम्॥ १८१॥*
पुत्रान्पौत्रमथ स्त्रियोऽन्ययुवतीर्वित्तान्यथोऽन्यद्धनं
भोज्यादिष्वपि तारतम्यवशतो नालं समुत्कण्ठया।
नैतादृग्यदुनायके समुदिते चेतस्यनन्ते विभौ
सान्द्रानन्दसुधार्णवे विहरति स्वैरं यतो निर्भयम्॥ १८२॥*
काम्योपासनयार्थयन्त्यनुदिनं केचित्फलं स्वेप्सितं
केचित्स्वर्गमथापवर्गमपरे योगादियज्ञादिभिः।
अस्माकं यदुनन्दनाङ्घ्रियुगलध्यानावधानार्थिनां
किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम्॥ १८३॥*
आश्रितमात्रं पुरुषं स्वाभिमुखं कर्षति श्रीशः।
लोहमपि चुम्बकाश्मा संमुखमात्रं जडं यद्वत्॥ १८४॥*

अरे चित्त! चञ्चलताको छोड़कर सामने तराजूके दोनों पलड़ोंमेंसे एकमें सब विषयोंको और दूसरेमें भगवान् श्रीपतिको रख और इसका विचार कर कि दोनोंके बीचमें विश्राम और हित किसमें है? फिर युक्ति और अनुभवसे जहाँ परमानन्द मिले उसीका सेवन कर॥ १८१॥ पुत्र, पौत्र, स्त्रियाँ, अन्य युवतियाँ, [अपना] धन, परधन और भोज्यादि पदार्थोंमें न्यूनाधिक भाव होनेसे कभी इच्छा शान्त नहीं होती; किन्तु जब घनानन्दामृतसिन्धु विभु यदुनायक श्रीकृष्ण चित्तमें प्रकट होकर इच्छापूर्वक विहार करते हैं तब यह बात नहीं रहती, क्योंकि उस समय चित्त स्वच्छन्द एवं निर्भय हो जाता है॥ १८२॥ कुछ लोग प्रतिदिन सकाम उपासनासे मनोवाञ्छित फलकी प्रार्थना करते हैं और कोई यज्ञादिसे स्वर्ग और योगादिसे मोक्षकी कामना करते हैं; किन्तु यदुनन्दनके चरणयुगलोंके ध्यानमें सावधान रहनेके इच्छुक हमको लोक, दम, राजा, स्वर्ग और मोक्षसे क्या प्रयोजन है?॥ १८३॥ श्रीपति (श्रीकृष्ण) अपने आश्रित पुरुषको अपनी ओर वैसे ही खींचते हैं जैसे सामने आये हुए जड लोहेको चुम्बक अपनी ओर खींचता है॥ १८४॥

---

* श्रीशंकराचार्यस्य प्रबोधसुधाकरात् २४८, २४९, २५०, २५१।

अयमुत्तमोऽयमधमो जात्या रूपेण संपदा वयसा।
श्लाघ्योऽश्लाघ्यो वेत्थं न वेत्ति भगवाननुग्रहावसरे॥ १८५॥*
अन्त:स्वभावभोक्ता ततोऽन्तरात्मा महामेघ:।
खदिरश्चम्पक इव वा प्रवर्षणं किं विचारयति॥ १८६॥*
यद्यपि सर्वत्र समस्तथापि नृहरिस्तथाप्येते।
भक्ता: परमानन्दे रमन्ति सदयावलोकेन॥ १८७॥*
सुतरामनन्यशरणा: क्षीराद्याहारमन्तरा यद्वत्।
केवलया स्नेहदृशा कच्छपतनया: प्रजीवन्ति॥ १८८॥*
यद्यपि गगनं शून्यं तथापि जलदामृतांशुरूपेण।
चातकचकोरनाम्नोर्दृढभावात्पूरयत्याशाम् ॥ १८९॥*
तद्वद्व्रजतां पुंसां दृग्वाङ्मनसामगोचरोऽपि हरि:।
कृपया फलत्यकस्मात्सत्यानन्दामृतेन विपुलेन॥ १९०॥*

कृपा करते समय भगवान् यह नहीं विचारते कि जाति, रूप, धन और आयुसे यह उत्तम है या अधम? स्तुत्य है या निन्द्य?॥ १८५॥ यह अन्तरात्मा (श्रीकृष्ण) रूपी महामेघ आन्तरिक भावोंका ही भोक्ता है; मेघ क्या वर्षाके समय इस बातका विचार करता है कि यह खदिर (खैर) है अथवा चम्पक (चम्पा) है?॥ १८६॥ यद्यपि भगवान् हरि सर्वत्र समान हैं तथापि भक्तजन उनकी दयादृष्टिसे परमानन्दमें रमण करते हैं॥ १८७॥ जिस प्रकार कि जिनका कोई सहारा नहीं होता ऐसे वे कछुएके बच्चे दूधके बिना ही केवल माताकी स्नेहदृष्टिसे ही जीवन धारण करते हैं॥ १८८॥ यद्यपि आकाश शून्य है तथापि चातक और चकोरकी दृढ़भावनासे वह मेघ और चन्द्रमाके रूपमें समस्त दिशाओंको पूर्ण कर देता है उसी प्रकार वाणी और मनके अगोचर भी श्रीहरि शरणागत पुरुषोंको बिना कारण ही सत्यानन्दरूपी अमृतसे भर देते हैं॥ १८९-१९०॥

* श्रीशंकराचार्यस्य प्रबोधसुधाकरात् २५२, २५३, २५४, २५५, २५६, २५७।

श्रीनन्दादिगोपसूक्तिः

श्रुतिमपरे स्मृतिमपरे भारतमपरे भजन्तु भवभीताः।
अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म॥ १९१॥*

दोहः प्रायो न भवति गवां दोहनञ्चेन्न पाकः
क्षीराणां स्यात् स यदि घटते दुर्लभं तद्दधित्वम्।
दध्नः सिद्धौ क्व खलु मथनं मन्थने क्वोपयोगः
तक्रादीनामिह गतिरभूदद्य गोधुग्गृहेषु॥ १९२॥*

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥ १९३॥†

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जिवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥ १९४॥†

संसारसे भयभीत होकर भले ही कोई श्रुतिको, कोई स्मृतिको और कोई महाभारतको भजें, मैं तो एक नन्दबाबाको ही भजता हूँ, जिनकी देहलीपर साक्षात् परब्रह्म विराजमान है॥ १९१॥ [उद्धवने कहा—'हे श्रीकृष्ण!] वृन्दावनमें प्रथम तो प्रायः गोदोहन ही नहीं होता; दोहन भी हो गया तो दूध नहीं उबाला जाता, यदि उबाला भी गया तो उसका दही जमाना कठिन है, यदि दही भी जमा तो उसका मन्थन कहाँ? और मन्थन भी हो जाय तो तक्रादिका कहाँ उपयोग हो? [आपके न होनेसे] गोपोंके घरोंमें आजकल ऐसी दुर्दशा हो रही है'॥ १९२॥ अहो! नन्दगोप और उन व्रजवासियोंका बड़ा ही सौभाग्य है, जिनके मित्र सनातन परमानन्दमय पूर्ण ब्रह्म परमेश्वर हैं॥ १९३॥ इस व्रजके भीतर वृन्दावन या गोकुलमें कहीं भी जन्म होना बड़े सौभाग्यकी बात है, क्योंकि ऐसा होनेसे वहाँके किसी भी निवासीकी चरणरजका अभिषेक प्राप्त हो सकता है; अहा! इन गोकुलवासियोंके तो जीवनसर्वस्व भगवान् कृष्ण ही हैं, जिनकी पदरेणुको आज भी श्रुतियाँ ढूँढ़ रही हैं॥ १९४॥

---

* श्रीरघुपत्युपाध्यायस्य। † श्रीमद्भा० १०। १४। ३२, ३४।

श्रीयशोदासूक्तिः

यद्रोमरन्ध्रपरिपूर्तिविधावदक्षा वाराहजन्मनि बभूवुरमी समुद्राः।
तन्नाम नाथमरविन्ददृशं यशोदापाणिद्वयान्तरजलैः स्नपयाम्बभूव॥ १९५॥*
यशोदया समा कापि देवता नास्ति भूतले।
उलूखले यया बद्धो मुक्तिदो मुक्तिमिच्छति॥ १९६॥
किं ब्रूमस्त्वां यशोदे कति कति सुकृतक्षेत्रवृन्दानि पूर्वं
गत्वा कीदृग्विधानैः कति कति सुकृतान्यर्जितानि त्वयैव।
नो शक्रो न स्वयम्भूर्न च मदनरिपुर्यस्य लेभे प्रसादं
तत् पूर्णं ब्रह्म भूमौ विलुठति विलपन् क्रोडमारोढुकामः॥ १९७॥

श्रीराधासूक्तिः

राधिकां नौमि नीलाब्जमदमोचनलोचनाम्।
श्रीनन्दनन्दनप्रेमवापीखेलन्मरालिकाम्॥ १९८॥†

वाराहावतारमें वे [सारे] समुद्र जिनके रोम-कूपको भी भरनेमें समर्थ न हो सके, उन्हीं कमलनयन श्रीकृष्णको मैया यशोदाने अपनी अञ्जलिभर पानीसे नहला दिया!॥ १९५॥ संसारमें यशोदाके समान कोई भी देवता नहीं है, जिसके द्वारा ऊखलमें बाँधे जानेपर [मुमुक्षुओंको] मोक्ष देनेवाले भगवान् कृष्ण भी मोक्ष (छूटने) की इच्छा करते हैं॥ १९६॥ अरी यशोदे! तुझसे हम क्या कहें; अकेली तूने ही न जाने कितने पुण्यक्षेत्रोंमें जाकर किन-किन विधियोंद्वारा कितने-कितने पुण्य कर्म किये हैं? अरी! जिसकी कृपाकटाक्षको इन्द्र, ब्रह्मा और महादेव कोई भी नहीं प्राप्त कर सके, वह पूर्णब्रह्म (श्रीकृष्ण) तेरी गोदमें चढ़नेके लिये रोता हुआ पृथ्वीपर लौट रहा है॥ १९७॥

अपने नयनोंसे नीलकमलके मदका मर्दन करनेवाली और श्रीनन्दनन्दनकी प्रेममयी बावलीमें खेलनेवाली राजहंसी श्रीराधिकाजीको मैं नमस्कार करता हूँ॥ १९८॥

* श्रीलीलाशुकस्य २। २७।
† श्रीपूर्णचन्द्रस्योद्धटसागरतः।

कुन्दकुञ्जममुं पश्य सरसीरुहलोचने।
अमुना कुन्दकुञ्जेन सखि मे किं प्रयोजनम्॥ १९९॥*

श्रीमत्कृष्णे मधुपुरगते निर्मला कापि बाला
गोपी नीलोत्पलनयनजां वारिधारां वहन्ती।
म्लानिव्याप्ता शशधरनिभं धारयन्ती तदास्यं
गाढप्रीतिच्युतिकृतजरा निर्भरं कातराभूत्॥ २००॥†

वृन्दारण्यान्मधुपुरमिते माधवे तस्य पश्चा-
दायास्यामि त्वरितमितिवाग्बीजसम्भूतमेकम्।
आशावृक्षं नयनसलिलैः सिञ्चती वर्द्धयन्ती
राधा बाधाविवशहृदया यापयामास मासान्॥ २०१॥‡

गोपीमात्रं घुणलिपिनयान्माधवप्रेमपात्रं
मत्वा यत्त्वामनतिशयिनी दृष्टिरग्रे ममासीत्।

[सखी—] 'हे कमललोचने राधे! इस कुन्दकुञ्जको देख' [राधा—] 'हे सखि! इस कुन्द कुञ्जसे मुझे क्या काम?' [यहाँ सखी और राधाकी बातचीतमें गूढ़ अर्थ है; सखी राधाको मुकुन्दकी याद दिलाती हुई कहती है कि 'अमुम्'—'मु' से रहित कुन्द-कुञ्जको देख। सखीके गूढ आशयको समझकर राधा कहती हैं; हमें 'अमुना'—'मु' से रहित कुन्दकुञ्जसे क्या काम? अर्थात् मुझे तो 'मु' सहित कुन्द यानी मुकुन्दकुञ्जकी ही आवश्यकता है]॥ १९९॥ कृष्णके मधुपुरीको विदा होनेके बाद कोई सरलहृदया गोपबाला अपने नयनकमलसे अश्रुधारा बहाती हुई चिन्तामग्न हो, प्रिय कृष्णके मुखचन्द्रका चिन्तन करती हुई, गाढ़ प्रेमके ह्रासकी आशङ्कासे शिथिल एवं अत्यन्त कातर हो गयी॥ २००॥ वृन्दावनसे मधुपुरीको जाते समय जो माधवने यह कहा था कि 'मैं शीघ्र ही लौटकर आऊँगा' इस वाणीरूपी बीजसे उत्पन्न हुए एकमात्र आशावृक्षको नयनजलसे सींचती और बढ़ाती हुई [विरहसे] व्यथितहृदया राधा किसी प्रकार उन महीनोंको काटती थी॥ २०१॥ हे राधे! तेरे महत्त्वको न जानकर पहले जो मेरी यह धारणा थी कि तुम कोई साधारण गोपी हो और घुणाक्षरन्यायसे कृष्णमें भी तुम्हारा प्रेम हो गया है,

* सभातरङ्गात्।

† श्रीरामदयालुतर्करत्नस्यानिलदूतात्।

‡ श्रीहरिमोहनप्रामाणिकस्य कोकिलदूतात्।

क्षन्तव्यं तद्विधिविधिसुतव्योमकेशाब्धिपुत्री-
मृग्यः पाशे पशुरिव तव प्रेम्णि बद्धो यदस्ति॥ २०२ ॥*

धन्येयं धरणी ततोऽपि मथुरा तत्रापि वृन्दावनं
तत्रापि व्रजवासिनो युवतयस्तत्रापि गोपाङ्गनाः।
तत्राचिन्त्यगुणैकधाम परमानन्दात्मिका राधिका
लावण्याम्बुनिधिस्त्रिलोकरमणीचूडामणिः काचन॥ २०३ ॥†

या पूर्वं हरिणा प्रयाणसमये संरोपिताशालता
साभूत् पल्लविता चिरात् कुसुमिता नेत्राम्बुसेकैः सदा।
विज्ञातं फलितेति हन्त भवता तन्मूलमुन्मूलितं
रे रे माधवदूत जीवविहगः क्षीणः कमालम्बते॥ २०४ ॥‡

आनम्रायां मयि निजमुखालोकलक्ष्मीप्रसादं
खेदश्रेणीविरचितमनोलाघवायाविधेहि ।
सेवाभाग्ये यदपि न विभो योग्यता मे तथापि
स्मारं स्मारं तव करुणतापूरमेवं ब्रवीमि॥ २०५ ॥‡

असितावयवस्य या व्रजेन्दोः
सितशोभैव पृथक्कृतेव भाति।

इसे क्षमा करना; क्योंकि ब्रह्मा, ब्रह्मपुत्र (सनकादि), शिव और लक्ष्मी आदि भी जिसकी खोजमें ही लग रहे हैं, वह कृष्ण तुम्हारे प्रेमपाशमें मृगकी तरह फँसा हुआ है॥ २०२॥

यह पृथ्वी धन्य है! उसपर भी मथुरा, वहाँ भी वृन्दावन, उसमें भी व्रजवासी, उनमें भी युवती गोपियाँ और उनमें भी अचिन्त्य गुणोंकी खानि, परमानन्दमय, सौन्दर्यकी नीधि एवं तीनों लोकोंकी स्त्रियोंमें शिरोमणि कोई राधानामकी गोपी ही धन्य है!॥ २०३॥ पहले मथुरा जाते समय भगवान् हरिने जिस आशालताको लगाया था वह हमारे अश्रुजलसे निरन्तर सींची जाकर बहुत दिनोंके बाद पल्लवित और पुष्पित हो रही थी; हम जानती थीं कि अब उसमें फल लगनेहीवाले हैं कि अरे! माधवके दूत उद्धव! तूने उसे जड़से उखाड़ डाला! न जाने, ये दुर्बल प्राणपखेरू अब किसका आश्रय लेंगे?॥ २०४॥ दुःखके भारसे दबे हुए मेरे इस हृदयको हलका करनेके लिये मुझ विनीताको अपने मुखारविन्दकी शोभाको निहारनेका प्रसाद दो; हे विभो! यद्यपि आपकी सेवाके सौभाग्यकी योग्यता मुझमें नहीं है तथापि आपकी करुणाराशिको याद करके मैं ऐसा कहती हूँ॥ २०५॥ जो श्यामशरीरवाले व्रजचन्द्र श्रीकृष्णकी पृथक् की हुई श्वेत कान्ति-सी ही भासित

---

*श्रीमाधवभट्टाचार्यस्य उद्धवदूतात्। † भट्टमाधवस्य दानलीलायाः। ‡ उद्धवसन्देशात्।

प्रणयातिशयेन तां नु राधां
भवबाधाविनिवृत्तये नमामः॥ २०६ ॥*
संविधाय दशने तृणं विभो प्रार्थये व्रजमहेन्द्रनन्दन।
अस्तु मोहन तवातिवल्लभा जन्मजन्मनि मदीश्वरी प्रिया॥ २०७ ॥†
यो ब्रह्मरुद्रशुकनारदभीष्ममुख्यैरालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य।
सद्योवशीकरणचूर्णमनन्तशक्तिं तं राधिकाचरणरेणुमनुस्मरामि॥ २०८ ॥‡
श्यामेति सुन्दरवरेति मनोहरेति
कन्दर्पकोटिललितेति सुनागरेति।
सोत्कण्ठमह्नि गृणती मुहुराकुलाक्षी
सा राधिका मयि कदा नु भवेत्प्रसन्ना॥ २०९ ॥‡
कृष्णः पक्षो नवकुवलयं कृष्णसारस्तमालौ
नीलाम्भोदस्तव रुचिपदं नामरूपैश्च कृष्णा।
कृष्णे कस्मात्तव विमुखता मोहनश्याममूर्ता-
वित्युक्त्वा त्वां प्रहसितमुखीं किन्नु पश्यामि राधे॥ २१० ॥‡

हो रही हैं, उन श्रीराधिकाको भवबाधाकी निवृत्तिके लिये हम अत्यन्त प्रेमसे प्रणाम करते हैं॥ २०६॥ हे नाथ! हे व्रजराजनन्दन! मैं दाँतोंमें तिनका लेकर (अति दीनतासे) विनती करता हूँ कि हे मोहन! तुम्हारी अत्यन्त प्रियतमा श्रीराधिकाजी ही जन्म-जन्ममें मेरी प्रिय स्वामिनी हों॥ २०७॥ जिस महापुरुषको ब्रह्मा, शिव, शुक, नारद, भीष्म आदि भी सहसा न जान सके, उसी कृष्णको तत्काल वशमें करनेवाली औषधिरूप अनन्तशक्तिशालिनी श्रीराधिकाजीकी चरणरेणुको मैं स्मरण करता हूँ॥ २०८॥ 'हे श्याम! हे सुन्दर वर! हे मनोहर! हे कोटिकामसे भी अधिक रमणीय! हे नटनागर! इस प्रकार उत्कण्ठापूर्वक दिनमें बारंबार श्रीकृष्णकी टेर लगाती हुई व्याकुल नेत्रोंवाली श्रीराधिकाजी मुझपर कब प्रसन्न होंगी?॥ २०९॥ जब तुम्हें कृष्ण पक्ष, नवीन नीलकमल, काला मृग, श्याम तमाल, नील मेघ तथा जो नाम और रूप दोनोंहीसे कृष्णा है, वह यमुना—ये सब काले ही प्यारे हैं तो फिर मोहिनी श्याममूर्तिवाले श्रीकृष्णसे ही तुम क्यों रूठी हुई हो? [मेरे] इस प्रकार ताना मारनेपर, हे राधे! तुम्हें मुसकराते हुए मैं कब देखूँगा?॥ २१०॥

---

* पाण्डेयरामनारायणदत्तशास्त्रिणः। † श्रीविट्ठलेश्वरस्य राधाप्रार्थनाचतुःश्लोकीस्तोत्रात्।

‡ गोस्वामिनः श्रीहितहरिवंशस्य राधासुधानिधिस्तोत्रात्।

ध्यायंस्तं शिखिपिच्छमौलिमनिशं तन्नाम सङ्कीर्तयन्
नित्यं तच्चरणाम्बुजं परिचरंस्तन्मन्त्रवर्यं जपन्।
श्रीराधापददास्यमेव परमाभीष्टं हृदा धारयन्
कर्हि स्यां तदनुग्रहेण परमोद्भूतानुरागोत्सवः॥ २११॥*

राधाकरावचितपल्लववल्लरीके राधापदाङ्कविलसन्मधुरस्थलीके।
राधायशोमुखरमत्तखगावलीके राधाविहारविपिने रमतां मनो मे॥ २१२॥*

श्रीव्रजाङ्गनासूक्तिः

वीतासङ्गाः शयनवसनस्नानपानाशनादौ
गायन्त्यस्त्वच्चरितगुणिताः सन्ततं गीतगाथाः।
औदासीन्यं किमपि सकला बन्धुवृन्दे वहन्त्यो
गोप्यो लीलाक्षितिषु भवतो योगिनीवद्भ्रमन्ति॥ २१३॥†

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥ २१४॥‡

सर्वदा मोरपंखका मुकुट धारण करनेवालेका ध्यान, उनके नामोंका कीर्तन, उनके चरणकमलोंकी नित्य सेवा तथा उनके मन्त्रोंका जप करते हुए और मन-ही-मन श्रीराधाचरणोंके दासत्वको ही अपना परम इष्ट समझते हुए उनकी कृपासे प्रकट हुए निरतिशय प्रेमानन्दमें मैं कब निमग्न होऊँगा?॥ २११॥ जहाँके पल्लव और मञ्जरी श्रीराधिकाजीके हाथोंसे चुने गये हैं, जहाँकी मनोहर भूमि श्रीराधिकाजीके चरणचिह्नोंसे सुशोभित हो रही है, जहाँके पक्षीगण श्रीराधिकाजीके यशोगानमें ही मस्त हैं, ऐसे श्रीराधिकाजीके क्रीडावन (वृन्दावन) में मेरा मन विचरण करे॥ २१२॥

[उद्धवने कहा—] 'हे कृष्ण! समस्त गोपियाँ शयन, वसन, स्नान, पान और भोजन आदि समस्त विषयोंसे आसक्ति हटाकर निरन्तर आपके ही चरित्रोंसे भरे हुए गीतोंको गाती हुई, अपने बन्धुजनोंके विषयमें अपूर्व उदासीनता धारणकर आपकी लीलाभूमि (वृन्दावन) में योगिनीकी तरह भ्रमण कर रही हैं'॥ २१३॥ वे गोपियाँ उन श्रीकृष्णचन्द्रमें ही मन लगाकर उनकी ही बात करती हुई, अपनी समस्त चेष्टाएँ उन्हींमें अर्पणकर और तल्लीन होकर उन्हींके गुणोंको गाती हुई, अपने घरकी याद भूल गयीं॥ २१४॥

* गोस्वामिनः श्रीहितहरिवंशस्य राधासुधानिधिस्तोत्रात्।

† श्रीमाधवभट्टाचार्यस्य उद्धवदूतात्। ‡श्रीमद्भा० १०। ३०। ४४।

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥ २१५ ॥*

गते गोपीनाथे मधुपुरमितो गोपभवनाद्
गता यावद्धूली रथचरणजा नेत्रपदवीम्।
स्थितास्तावल्लेख्या इव विरहतो दुःखविधुरा
निवृत्ता निष्पेतुः पथिषु शतशो गोपवनिताः ॥ २१६ ॥†

श्रुतयः पलालकल्पाः किमिह वयं साम्प्रतं चिनुमः।
अह्रियत पुरैव नयनैराभीरीभिः परं ब्रह्म ॥ २१७ ॥

मुक्तमुनीनां मृग्यं किमपि फलं देवकी फलति।
तत्पालयति यशोदा प्रकामभुवि भुज्यते गोप्या ॥ २१८ ॥

भक्ता मय्यनुरक्ताश्च कति सन्ति न भूतले।
किन्तु गोपीजनः प्राणाधिकः प्रियतमो मम ॥ २१९ ॥

जो दूध दूहने, कूटने, दही मथने, लीपने, छाँटने, बालकोंके रोने, धोने और बुहारने आदिके समय भी अश्रुपूर्ण नेत्र, गद्गदकण्ठ और अनुरक्त बुद्धिसे भगवान्‌का ही यशोगान करती हैं, वे भगवान् कृष्णमें ही अपना मन लगाये रहनेवाली व्रजाङ्गनाएँ धन्य हैं! ॥ २१५ ॥ नन्दगृहसे गोपीनाथके मधुपुरी चले जानेपर, जबतक उनके रथके पहियोंसे उठी हुई धूलि आँखोंसे दीख पड़ी तबतक तो वे विरहदुःखसे कातर हुई चित्रलिखित-सी खड़ी देखती रहीं। पीछे जब उसका दीखना बंद हुआ तो सैकड़ों गोपाङ्गनाएँ [सुध-बुध भुलाकर] मार्गमें गिर पड़ीं ॥ २१६ ॥ श्रुतियाँ पुआलके सदृश [सारहीन हो चुकी] हैं, इनमें हम अब क्या खोजें? [क्योंकि] इनमें निहित परब्रह्म-(कृष्ण-) को तो गोपाङ्गनाओंने पहले ही नेत्रोंसे हर लिया है ॥ २१७ ॥ नित्यमुक्त मुनिजनोंका वाञ्छनीय कोई फल देवकीमें तो फलता है, यशोदाके यहाँ पालित होता है और व्रजमें गोपियाँ उसे यथेष्ट भोगती हैं ॥ २१८ ॥ मुझमें अनुरक्त संसारमें कितने भक्त नहीं हैं! किन्तु मुझे प्राणाधिक प्रियतमा तो गोपबालाएँ ही हैं ॥ २१९ ॥

---

*श्रीमद्भा० १०। ४४। १५। †श्रीलम्बोदरवैद्यस्य गोपीदूतात्।

यं वेद वेदविदपि प्रियपिन्दिराया-
स्तन्नाभिनीररुहगर्भगृहो न धाता।
गोपालबालललना वनमालिनं तं
गोधूलिधूसरशरीरमरीरमंस्ताः ॥ २२० ॥*

शीर्णा गोकुलमण्डली पशुकुलं शष्पाय न स्पन्दते
मूका कोकिलसंहतिः शिखिकुलं न व्याकुलं नृत्यति।
सर्वे त्वद्विरहेण हन्त नितरां गोविन्द दैन्यं गताः
किन्त्वेका यमुना कुरङ्गनयनानेत्राम्बुभिर्वर्धते ॥ २२१ ॥

कस्मै किं कथनीयं कस्य मनः प्रत्ययो भवति।
रमयति गोपवधूटी कुञ्जकुटीरे परं ब्रह्म ॥ २२२ ॥

न तथा मे प्रियतमो ब्रह्मा रुद्रश्च पार्थिव।
न च लक्ष्मीर्न चात्मा च यथा गोपीजनो मम ॥ २२३ ॥†

वेदोंके तत्त्वज्ञाता और उन्हींकी नाभिसे उत्पन्न हुए कमलमें निवास करनेवाले ब्रह्मा भी जिन श्रीपतिको न जान सके उन्हीं वनमालीको, जिनका शरीर [शैशवावस्थामें] गोधूलिसे धूसरित रहता था, [गोदीमें बिठाकर] गोपबालाएँ खेलाया करती थीं ॥ २२० ॥ [व्रजसे लौटकर उद्धवने कहा—] 'हे गोविन्द! [आपके बिना] गोपबालकोंकी मण्डली तितर-बितर हो गयी है, गौएँ अब घासके लिये भी चेष्टा नहीं करतीं, कोयलोंने बोलना छोड़ दिया है और व्याकुल हुए मयूर अब नाचते ही नहीं हैं, इस प्रकार तुम्हारे विरहसे सभी दीन हो गये हैं; किन्तु एक यमुनाजी ही मृगलोचना व्रजाङ्गनाओंके आसुओंसे बढ़ रही हैं ॥ २२१ ॥ किससे क्या कहा जाय? [सुनकर भी] किसके मनको विश्वास होगा? अहो! पर्णकुटीमें एक गोपी (श्रीयशोदाजी) साक्षात् परब्रह्मको [गोदमें लेकर] खेला रही है ॥ २२२ ॥ हे राजन्! ब्रह्मा, रुद्र, लक्ष्मी तथा स्वयं मेरी आत्मा भी मुझे उतनी प्रिय नहीं है—जितनी कि गोपियाँ हैं ॥ २२३ ॥

---

* श्रीबिल्वमङ्गलठाकुरस्य। † आदिपुराणात्।

श्रीमुरलीसूक्तिः

अयि मुरलि मुकुन्दस्मेरवक्त्रारविन्द-
श्वसनमधुरसज्ञे त्वां प्रणम्याद्य याचे।
अधरमणिसमीपं प्राप्तवत्यां भवत्यां
कथय रहसि कर्णे मद्दशां नन्दसूनोः॥ २२४॥*

लोकानुद्धरयञ्छ्रुतीर्मुखरयन् क्षोणीरुहान्हर्षयञ्-
च्छैलान्विद्रवयन्मृगान्विवशयन्गोवृन्दमानन्दयन्।
गोपान्सम्भ्रमयन्मुनीन्मुकुलयन्सप्तस्वराञ्जृम्भय-
न्नोङ्कारार्थमुदीरयन्विजयते वंशीनिनादः शिशोः॥ २२५॥*

मुखारविन्दनिस्यन्दमरन्दभरतुन्दिला।
ममानन्दं मुकुन्दस्य सन्दुग्धां वेणुकाकली॥ २२६॥†

मुरहर रन्धनसमये मा कुरु मुरलीरवं मधुरम्।
नीरसमेधो रसतां कृशानुरप्येति कृशतनुताम्॥ २२७॥

ध्यानं बलात् परमहंसकुलस्य भिन्दन्
निन्दन् सुधामधुरिमानमधीरधर्मा।

मुकुन्दके मुसकानयुक्त मुखकमलसे निकलते हुए श्वासके मधुर रसको जाननेवाली अरी मुरलिके! आज मैं प्रणाम करके तुझसे एक याचना करता हूँ कि जब तू भगवान्‌की अधरमणिके पास पहुँचे तो एकान्तमें उस नन्दकिशोरके कानमें मेरी दशा भी कह देना॥ २२४॥ लोकोंका उद्धार, श्रुतियोंको शब्दायमान, तरुवरोंको प्रफुल्लित, पर्वतोंको द्रवीभूत, मृगोंको विवश, गोवृन्दको आनन्दित, गोपोंको विस्मित, मुनियोंको आमोदित, सप्त-स्वरोंको प्रकाशित और प्रणवार्थको उद्घोषित करनेवाले, बालगोपालके वंशीनिनादकी बलिहारी है!॥ २२५॥ मुकुन्दके मुखकमलसे निकले हुए मकरन्द-बिन्दुओंसे भरी हुई वंशीकी गुंजार मेरे आनन्दकी वृद्धि करे॥ २२६॥ हे मुरारे! भोजन पकानेके समय आप मुरलीका मधुर रव न किया करें, क्योंकि उससे ये सूखी लकड़ियाँ सरस हो जाती हैं और अग्नि भी मन्द पड़ जाती है॥ २२७॥ जो परमहंसोंके ध्यानको बलपूर्वक भङ्ग करती है, सुधाके माधुर्यको फीका बताती है, धैर्यका अपहरण करना जिसका मुख्य धर्म हो रहा है, जो

---

* श्रीलीलाशुकस्य १। ११, ९५। † श्रीरूपगोस्वामिनो लघुभागवतामृतात्।

कन्दर्पशासनधुरां मुहुरेव शंसन्
वंशीध्वनिर्जयति कंसनिषूदनस्य ॥ २२८ ॥*

भिन्दन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपदं कुर्वन् मुहुस्तुम्बुरुं
ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान्संस्तम्भयन् वेधसम्।
औत्सुक्यावलिभिर्बलिं विवलयन् भोगीन्द्रमाघूर्णयन्
भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः ॥ २२९ ॥*
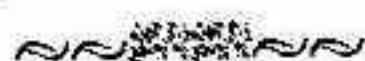
श्रीवृन्दावनसूक्तिः

वृन्दारण्ये चर चरण दृक् पश्य वृन्दावनश्री-
र्जिह्वे वृन्दावनगुणगणान् कीर्त्तय श्रोत्रदृष्टान्।
वृन्दाटव्या भज परिमलं घ्राण गात्र त्वमस्मिन्
वृन्दारण्ये लुठ पुलकितं कृष्णकेलिस्थलीषु ॥ २३० ॥†

कदा नु वृन्दावनकुञ्जमण्डले भ्रमम्भ्रमं हेमहरिन्मणिप्रभम्।
संस्मृत्य संस्मृत्य तदद्भुतं प्रियं द्वयं द्वयं विस्मृतिमेतु मेऽखिलम् ॥ २३१ ॥†

बार-बार कन्दर्पके शासनका भार अपने सिर ले रही है; उस भगवान् कंस-निषूदनकी वंशीध्वनिकी बलिहारी है ॥ २२८ ॥ मेघमालाको छिन्न-भिन्न कर [ऊपर पहुँच] गन्धर्वराज तुम्बुरुको आश्चर्यमें डालता हुआ, सनन्दनादि योगियोंको ध्यानसे विचलित कर ब्रह्माजीको स्तब्ध करता हुआ और [नीचेकी ओर पातालमें पहुँच] राजा बलिको अत्यन्त उत्कण्ठावश चञ्चल करके नागराज अनन्तदेवको कम्पित करता हुआ भगवान्का वेणुनाद ब्रह्माण्डकटाहकी दीवार वेधकर सब ओर असीम अनन्तमें फैल गया ॥ २२९ ॥

हे चरणो! वृन्दावनमें चलो, हे नेत्रो! वृन्दावनकी शोभा निहारो, हे जिह्वे! कानोंसे सुनी हुई वृन्दावनकी गुणावलीका गान कर, हे घ्राण! वृन्दावनकी सुगन्धका अनुभव कर और हे शरीर! तू इस वृन्दावनके भीतर कृष्णके क्रीडास्थलोंमें पुलकित होकर बारंबार लोट ॥ २३० ॥ वृन्दावनके निकुञ्जोंमें घूम-घूमकर स्वर्ण और हरितमणिके समान कान्तिवाली [श्रीराधा-माधवकी] अति अद्‌भुत और प्यारी युगल जोड़ीको याद कर-करके मैं कब सब कुछ भूल जाऊँगा? ॥ २३१ ॥

---

* भक्तिरसामृतसिन्धौ। † श्रीवृन्दावनशतकात्।

कदा नु वृन्दावनवीथिकास्वहं परिभ्रमञ्छ्यामलगौरमद्‌भुतम्।
किशोरमूर्तिद्वयमेक जीवनं पुरःस्फुरद्वीक्ष्यपतामि मूर्छितः॥ २३२॥*

षष्ठोल्लास

श्रीहरिहरसूक्तिः

हरिरेव हरो हर एव हरिर्न हि भेदलवोऽपि तयोः प्रथितः।
इति सिद्धमुनीशयतीशवरा निगदन्ति सदा विमदाः सुजनाः॥ १॥†
भीमाकृतिं वा रुचिराकृतिं वा त्रिलोचनं वा समलोचनं वा।
उमापतिं वाथ रमापतिं वा हरिं हरं वा मुनयो भजन्ते॥ २॥†
सच्चित्स्वरूपं करुणासुकूपं गीर्वाणभूपं वरधर्मयूपम्।
संसारसारं सुरुचिप्रसारं देवं हरिं वा भज भो हरं वा॥ ३॥†
हरिरेव बभूव हरः परमो हर एव बभूव हरिः सरमः।
हरिता हरता च तथा मिलिता रचयत्यखिलं खलु विश्वमिदम्॥ ४॥†

श्रीवृन्दावनकी गलियोंमें विचरता हुआ किशोर और किशोरीकी अति अद्‌भुत श्याम-गौर वर्णवाली एकप्राणमयी दोनों मूर्तियोंको सम्मुख देदीप्यमान हुई देखकर मैं कब [प्रेमावेशसे] मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ूँगा?॥ २३२॥

विष्णु ही शङ्कर हैं और शङ्कर ही विष्णु हैं, इन दोनोंमें लेशमात्र भी भेद नहीं है, इस प्रकार सिद्ध, मुनीश्वर, अभिमानशून्य सज्जन और बड़े-बड़े यति सदा कहा करते हैं॥ १॥ मुनिगण भयङ्कर रूप या सुन्दर रूपवाले, त्रिनेत्र या द्विनेत्र, पार्वतीपति या लक्ष्मीपति, शिव अथवा विष्णुको भजते हैं॥ २॥ सच्चित्स्वरूप और दयानिधान, देवादिदेव और सद्धर्मोंके आधार, प्रेमका विस्तार करनेवाले संसारके सारभूत भगवान् शङ्कर या विष्णुका, हे लोगो! भजन करो॥ ३॥ श्रीहरि ही सर्वश्रेष्ठ महादेव हुए हैं और श्रीमहादेवजी ही लक्ष्मीजीसहित भगवान् विष्णु हुए हैं; इस प्रकार वैष्णवी और शैवी दोनों शक्तियाँ सम्मिलित होकर इस सारे विश्वको रचती हैं॥ ४॥

* श्रीवृन्दावनशतकात्। † श्रीअच्युताश्रमस्य हरिहरस्तोत्रात्।

गोविन्द माधव मुकुन्द हरे मुरारे
शम्भो शिवेश शशिशेखर शूलपाणे।
दामोदराच्युत जनार्दन वासुदेव
त्याज्या भटा य इति सन्ततमामनन्ति॥ ५॥*

श्रीसूर्यसूक्तिः

यस्योदयास्तसमये सुरमुकुटनिघृष्टचरणकमलोऽपि।
कुरुतेऽञ्जलिं त्रिनेत्रः स जयति धाम्नां निधिः सूर्यः॥ ६॥†
भास्वद्रत्नाढ्यमौलिः स्फुरदधररुचा रञ्जितश्चारुकेशो
भास्वान् यो दिव्यतेजाः करकमलयुतः स्वर्णवर्णः प्रभाभिः।
विश्वाकाशावकाशग्रहपतिशिखरे भाति यश्चोदयाद्रौ
सर्वानन्दप्रदाता हरिहरनमितः पातु मां विश्वचक्षुः॥ ७॥‡

[धर्मराजने कहा—] जो लोग गोविन्द, माधव, मुकुन्द, हरे, मुरारे, शम्भो, शिव, ईश, शशिशेखर, शूलपाणि, दामोदर, अच्युत, जनार्दन, वासुदेव!—इस प्रकार निरन्तर उच्चारण करते रहते हैं, हे दूतो! उन्हें [दूरसे ही] त्याग देना॥ ५॥

देवताओंके मुकुटोंसे [बारम्बार नमस्कार किये जानेके कारण] जिनके चरण-कमल घिस गये हैं, वे शिवजी भी उन्हें उदय और अस्त होते समय हाथ जोड़ते हैं, उन तेजोमण्डल सूर्यदेवकी बलिहारी है!॥ ६॥ जो अत्यन्त चमकीले रत्नोंका मुकुट धारण किये हुए हैं, जगमगाते हुए लाल ओठोंसे सुशोभित हैं, सुन्दर केशधारी हैं तथा जो प्रभामय एवं दिव्य तेजसे सम्पन्न हो हाथोंमें कमल धारण किये हुए अपनी सुनहली कान्तियोंसे उस उदयगिरिपर सुशोभित होते हैं जो कि अपने शिखरपर विश्व, आकाश और ग्रहपतियोंको स्थान देते हैं, ऐसे सर्वानन्ददाता विष्णु-शिवादिसे नमस्कृत जगत्‌के नेत्ररूप सूर्य हमारी रक्षा करें॥ ७॥

---

* स्कन्दपुराणे काशीखण्डे।

† श्रीयाज्ञवल्क्यस्य सूर्यार्यास्तोत्रात्।

‡ भविष्यपुराणे आदित्यहृदयस्तोत्रात्।

श्रीगङ्गासूक्तिः

मातर्गङ्गे तरलतरङ्गे सततं वारिधिवारिणि सङ्गे।
मम तव तीरे पिबतो नीरं 'हरि हरि' जपतः पततु शरीरम्॥ ८॥
नमस्तेऽस्तु गङ्गे त्वदङ्गप्रसङ्गाद् भुजङ्गास्तुरङ्गाः कुरङ्गाः प्लवङ्गाः।
अनङ्गारिरङ्गाः ससङ्गाः शिवाङ्गा भुजङ्गाधिपाङ्गीकृताङ्गा भवन्ति॥ ९॥*
कत्यक्षीणि करोटयः कति कति द्वीपिद्विपानां त्वचः
काकोलाः कति पन्नगाः कति सुधाधाम्नश्च खण्डाः कति।
किं च त्वं च कति त्रिलोकजननि त्वद्वारिपूरोदरे
मज्जज्जन्तुकदम्बकं समुदयत्येकैकमादाय यत्॥ १०॥*
शुभतरकृतयोगाद्विश्वनाथप्रसादाद्
भवहरवरविद्यां प्राप्य काश्यां हि गङ्गे।
भगवति तव तीरे नीरसारं निपीय
मुदितहृदयकुञ्जे नन्दसूनुं भजेऽहम्॥ ११॥†

हे चञ्चल तरङ्गोंवाली और सदा समुद्रके जलमें मिलनेवाली मातः गङ्गे! तेरे तीरपर तेरा जल पान करते हुए और 'हरि हरि' जपते हुए मेरा शरीरपात हो॥ ८॥ हे गङ्गे! तुम्हारे शरीरके संसर्गसे साँप, घोड़े, हरिण और बंदर आदि भी कामारि शिवके समान वर्णवाले, शिवके सङ्गी और [उन्हींके समान] कल्याणमय शरीरवाले होकर, अङ्गमें भुजङ्गराजोंको लपेटे हुए सानन्द विचरते हैं; अतः तुमको नमस्कार है॥ ९॥ हे त्रिलोकमाता! तेरी जलधारामें आँख, नरमुण्ड, व्याघ्र तथा हाथीके चमड़े, हलाहल, सर्प और चन्द्रमाके टुकड़े कितने हैं? तथा तू भी कितनी है? जो कि तुझमें डुबकी लगानेवाले सभी जीव, इनमेंसे प्रत्येक वस्तुको साथ लेकर बाहर निकलते हैं [अर्थात् शिवरूप होकर कृतकृत्य हो जाते हैं]॥ १०॥ हे भगवति गङ्गे! अपने शुभकर्मोंके योग और विश्वनाथजीके अनुग्रहसे संसारसे पार करनेवाली उत्तम विद्याको प्राप्त करके काशीमें तुम्हारे तीरपर [रहकर] सारभूत जलको पीता हुआ मैं अपने आनन्दमय हृदयकुञ्जमें नन्दनन्दन कृष्णको भजता हूँ॥ ११॥

---

* कालिदासस्य गङ्गाष्टकात्।

† सत्यज्ञानानन्दतीर्थस्य गङ्गाष्टकस्तोत्रात्।

श्रीयमुनासूक्तिः

तीरे घनीभूततमालजाला प्राणाधिनाथीकृतनन्दबाला।
कृपीटयोनेरिव धूममाला बाला जयेत्सन्ततमुष्णरश्मेः॥ १२॥*

नमामि यमुनामहं सकलसिद्धिहेतुं मुदा
मुरारिपदपङ्कजस्फुरदमन्दरेणूत्कटाम्।
तटस्थनवकाननप्रकटमोदपुष्पाम्बुना
सुरासुरसुपूजितस्मरपितुः श्रियं बिभ्रतीम्॥ १३॥†

नमोऽस्तु यमुने सदा तव चरित्रमत्यद्भुतं
न जातु यमयातना भवति ते पयःपानतः।
यमोऽपि भगिनीसुतान्कथमु हन्ति दुष्टानपि
प्रियो भवति सेवनात्तव हरेर्यथा गोपिकाः॥ १४॥‡

मातर्देवि कलिन्दभूधरसुते नीलाम्बुजश्यामल-
स्निग्धोद्यद्विमलोर्मिताण्डवधरे तुभ्यं नमस्कुर्महे।

जिनके तटपर सघन तमालके वृक्ष हैं, जिन्होंने नन्दनन्दनको अपना प्राणनाथ बनाया है, अग्निसे प्रकट हुई धूममालाकी तरह सूर्यकी श्यामवर्णा पुत्री उन यमुनाजीकी सदा जय हो॥ १२॥ जो सदा ही समस्त सिद्धियोंकी हेतु हैं, मुरारिके चरणकमलसे उड़ी हुई अनन्त धूलियोंसे उत्कट हो रही हैं, तटवर्ती नूतन वनसे प्रकट हुए आमोदमय पुष्पोंसे मिश्रित जलसे जो देवदानवपूजित प्रद्युम्नपिता श्रीकृष्णचन्द्रकी कान्ति धारण करती हैं, उन यमुनाजीको मैं प्रसन्नतापूर्वक प्रणाम करता हूँ॥ १३॥ हे यमुने! तुम्हें सदा ही नमस्कार है, तुम्हारा चरित्र अत्यन्त अद्भुत है, तुम्हारा जल पीनेसे कभी यम-यातना नहीं होती। भला, यमराज अपनी बहिनके‡ पुत्रोंको दुष्ट होनेपर भी कैसे मार सकता है? तुम्हारी सेवा करनेसे मनुष्य गोपियोंकी भाँति भगवान् कृष्णका प्रिय हो जाता है॥ १४॥ नील कमलके समान श्याम स्निग्ध निर्मल उत्ताल तरङ्गोंका ताण्डव धारण करनेवाली कलिन्द पर्वतकी कन्या, माता देवि यमुने! हम तुम्हें प्रणाम करते हैं।

---

* पाण्डेयरामनारायणदत्तशास्त्रिणः।

† श्रीवल्लभाचार्यविरचितयमुनाष्टकात्।

‡ यमराज और यमुना भगवान् सूर्यकी सन्तान हैं अतः वे परस्पर भाई-बहिन हैं।

त्वं तुर्याप्यसि यत्प्रिया मुररिपोस्तद्बाल्यतारुण्ययो-
लीलानामवधायिकान्यमहिषीवृन्देषु वन्द्याधिकम्॥ १५॥*

श्रीगणेशसूक्तिः

गौरीश्रवःकेतकपत्रभङ्गमाकृष्य हस्तेन ददन्मुखाग्रे।
विघ्नं मुहूर्ताकलितद्वितीयदन्तप्ररोहो हरतु द्विपास्यः॥ १६॥†
योगं योगविदां विधूतविविधव्यासङ्गशुद्धाशय-
प्रादुर्भूतसुधारसप्रसृमरध्यानास्पदाध्यासिनाम्।
आनन्दप्लवमानबोधमधुरामोदच्छटामेदुरं
तं भूमानमुपास्महे परिणतं दन्तावलास्यात्मना॥ १७॥‡
भ्राम्यन्मन्दरघूर्णनापरवशक्षीराब्धिवीचिच्छटा-
सच्छायाश्चलचामरव्यतिकरश्रीगर्वसर्वंकषाः।
दिक्कान्ताघनसारचन्दनरसासाराः श्रयन्तां मनः
स्वच्छन्दप्रसरप्रलिप्तवियतो हेरम्बदन्तत्विषः॥ १८॥‡

तुम तुरीया भी हो, क्योंकि मुरदैत्यके शत्रु भगवान् कृष्णकी प्रियतमा हो और उनके बचपन तथा यौवनकी लीलाओंकी अधिष्ठात्री एवं अन्य पटरानियोंमें सबसे अधिक वन्दनीया हो॥ १५॥

पार्वतीजीके कानमें पहने हुए केतकपत्रको सूँडसे खींचकर मुखके अग्रभागमें लगाते समय क्षणभरके लिये जिनके मुखसे द्वितीय दाँतका अङ्कुर-सा निकलता जान पड़ा, वे भगवान् गजानन मेरे विघ्नको हर लें॥ १६॥ जो नाना भाँतिकी आसक्तियोंसे रहित विशुद्ध अन्तःकरणमें अमृतरसको प्रकट करनेवाले दीर्घ ध्यानमें तत्पर हुए योगियोंके योग (प्राप्तव्य) हैं, आनन्दमें तरङ्गायमान बोधजन्य मधुर आमोदकी छटासे स्निग्धवर्ण हुए गजाननरूपमें परिणत उन भूमा (पूर्ण) परमात्माकी हम उपासना करते हैं॥ १७॥ [समुद्रमन्थनके समय] मन्दराचलके घूमनेसे क्षुब्ध हुए क्षीर-सागरकी लहरोंके समान जिसकी उज्ज्वल कान्ति है, जो चञ्चल चँवरकी शोभाका गर्व खर्व करनेवाली है, जिसके स्वच्छन्द प्रसारसे आकाश लिप्त हो रहा है, दिगङ्गनाओंके शरीरपर घनसारः और चन्दनरसकी वर्षा करनेवाली वह गणेशजीके दाँतोंकी प्रभा मेरे हृदयमें प्रकाशमान हो॥ १८॥

* रमेशसूरिसूनुविरचितयमुनाष्टकात्। † रामाश्रमाचार्यस्य मुहूर्तचिन्तामणेः।
‡ श्रीराघवचैतन्यविरचितमहागणपतिस्तोत्रात् १, ६।

मुक्ताजालकरम्बितप्रविकसन्माणिक्यपुञ्जच्छटा-
कान्ताः कम्बुकदम्बचुम्बितवनाभोगप्रबालोपमाः।
ज्योत्स्नापूरतरङ्गमन्थरतरत्सन्ध्यावयस्याश्चिरं
हेरम्बस्य जयन्ति दन्तकिरणाकीर्णाः शरीरत्विषः॥ १९॥*

श्रीसरस्वतीसूक्तिः

रविरुद्रपितामहविष्णुनुतं हरिचन्दनकुङ्कुमपङ्कयुतम्।
मुनिवृन्दगणेन्द्रसमानयुतं तव नौमि सरस्वति पादयुगम्॥ २०॥†

यः कश्चिद्बुद्धिहीनोऽप्यविदितनमनध्यानपूजाविधानः
कुर्याद्यद्यम्ब सेवां तव पदसरसीजातसेवारतस्य।
चित्रं तस्यास्यमध्यात्प्रसरति कविता वाहिनीवामराणां
सालङ्कारा सुवर्णा सरसपदयुता यत्नलेशं विनैव॥ २१॥‡

सेवापूजानमनविधयः सन्तु दूरे नितान्तं
कादाचित्की स्मृतिरपि पादाम्भोजयुग्मस्य तेऽम्ब।

मोतियोंसे मिले हुए विकसित माणिक्य पुञ्जकी-सी जिसकी कमनीय कान्ति है, जिसकी उपमा शङ्खसमूहसे चुम्बित वनके नूतन पल्लवोंसे हो रही है, जो घनीभूत चाँदनीकी तरङ्गोंमें मन्द-मन्द तैरती हुई सन्ध्याके समान शोभा पाती है, दाँतोंकी किरणोंसे व्याप्त हुई गणेशजीके शरीरकी वह प्रभा सर्वदा विजय पा रही है॥ १९॥

हे मातः सरस्वति! सूर्य, शिव, ब्रह्मा और भगवान् विष्णु जिनपर मस्तक झुकाते हैं, जिनपर हरिचन्दन और कुङ्कुमका अनुलेप हुआ है और मुनियोंका समूह तथा गणेशजी-जैसे देवता जिनका सेवन करते हैं, उन तुम्हारे दोनों चरणोंको मैं प्रणाम करता हूँ॥ २०॥ हे जननि! नमन, ध्यान और पूजनकी विधिको न जाननेवाला कोई बुद्धिहीन पुरुष भी यदि तुम्हारी सेवा करने लग जाय तो आश्चर्य है कि तुम्हारे चरणकमलोंकी सेवामें तत्पर हुए उस भक्तके मुखसे थोड़ा भी यत्न किये बिना ही देवनदी गङ्गाकी तरह अलङ्कार, सुन्दर वर्ण और सरस पदोंसे युक्त कविताका प्रसार होने लगता है॥ २१॥ हे मातः! सेवा, पूजा और नमनकी विधियाँ तो अत्यन्त दूर रहें, आपके युगल चरणारविन्दोंकी कभी-कभी की हुई स्मृति भी

---

* श्रीराघवचैतन्यविरचितमहागणपतिस्तोत्रात् (७)। † बृहत्स्तोत्रमुक्ताहारे ब्रह्मविरचितसरस्वतीस्तोत्रात्।
‡ जगद्गुरुनृसिंहभारतीस्वामिविरचितशारदाष्टकात्।

मूकं रङ्कं कलयति सुराचार्यमिन्द्रं च वाचा
लक्ष्म्या लोको न च कलयते तां कलेः किं हि दौः स्थ्यम्॥ २२॥*
हंसे हि शब्दे किमु मुख्यवृत्त्या स्थिताहमेवेति विबोधनाय।
विभासि हंसे जगदम्बिके त्वमित्यस्मदीये हृदये विभाति॥ २३॥†
शुक्लां ब्रह्मविचारसारपरमामाद्यां जगद्व्यापिनीं
वीणापुस्तकधारिणीमभयदां जाड्यान्धकारापहाम्।
हस्ते स्फाटिकमालिकां विदधतीं पद्मासने संस्थितां
वन्दे तां परमेश्वरीं भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम्॥ २४॥

सप्तमोल्लास

धर्मसूक्तिः

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥ १॥‡

गूँगेको वाक्शक्ति देकर बृहस्पति बना देती है और दरिद्रको लक्ष्मी देकर इन्द्रके समान कर देती है। संसार स्वयं वाणी या लक्ष्मीको नहीं प्राप्त कर सकता। [आपकी कृपा होनेपर] कलिकी दुष्टता क्या कर सकती है?॥ २२॥ हे जगदम्ब! क्या तुम यह सूचित करनेके लिये ही हंसपर सुशोभित होती हो कि 'मैं मुख्य वृत्ति (अभिधा शक्ति) से हंस शब्द [के वाच्य ज्ञानी परमहंसजनों] में ही स्थिर रहती हूँ। मेरे हृदयमें तो ऐसा ही भान हो रहा है॥ २३॥ जिनका वर्ण श्वेत है, जो ब्रह्मविचारकी परम सारभूत हैं, आदिशक्ति हैं, सारे संसारमें व्यापक हो रही हैं, वीणा और पुस्तक हाथोंमें धारण किये हैं, मूर्खतारूपी अन्धकारको नाश करनेवाली हैं, हाथमें स्फटिककी माला धारण किये रहती हैं, कमलके आसनपर विराजमान हैं, उन बुद्धिदायिनी परमेश्वरी भगवती सरस्वतीकी मैं वन्दना करता हूँ॥ २४॥

मनुष्य वेद और स्मृतिमें कहे हुए धर्मका पालन करता हुआ इस संसारमें यश प्राप्त करता है और मरकर परम उत्तम सुख पाता है॥ १॥

---

* जगद्गुरुनृसिंहभारतीस्वामिविरचितशारदाषट्कात्।

† श्रीमदभिनवनृसिंहभारतीस्वामिविरचितशारदास्तोत्रात्।

‡ मनु० २।९।

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो ह निर्बभौ ॥ २ ॥*
आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः ॥ ३ ॥*
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ ४ ॥*
अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ ५ ॥*
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ६ ॥*
एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ७ ॥*
धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत् ॥ ८ ॥*

वेदको श्रुति और धर्मशास्त्रको स्मृति जानना चाहिये। सभी विषयोंमें इन दोनोंको बिना विचारे ही मान लेना चाहिये, क्योंकि इनसे ही धर्म उत्पन्न हुआ है॥ २॥ वेद तथा स्मृति दोनोंमें कहा हुआ आचार ही परम धर्म है। इसलिये आत्मपरायण द्विजोंको चाहिये कि आचारका सदा पालन करें॥ ३॥ वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्माको प्रिय लगनेवाला—यह चार प्रकारका धर्मका साक्षात् लक्षण कहा गया है॥ ४॥ हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्र रहना और इन्द्रियोंका संयम करना—यही संक्षेपसे मनुजीने चारों वर्णोंका धर्म बतलाया है॥ ५॥ धृति, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), शौच (मन, वाणी और शरीरकी पवित्रता), इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण हैं॥ ६॥ वेदका मर्म जाननेवाला कोई एक द्विजश्रेष्ठ भी जिसका निर्णय कर दे, उसे ही परम धर्म जानना चाहिये, परन्तु दस हजार भी मूर्ख जिसका निर्णय करें वह धर्म नहीं है॥ ७॥ नष्ट हुआ धर्म ही मारता है और रक्षा किया हुआ धर्म ही रक्षा करता है। इसलिये नष्ट हुआ धर्म कहीं हमको न मारे, यह विचारकर धर्मका नाश नहीं करना चाहिये॥ ८॥

---

* मनु० २। १०; १। १०८; २। १२; १०। ६३; ६। ९२; १२। ११३; ८। १५।

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम्॥ ९ ॥*
अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥ १० ॥*
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥ ११ ॥*
ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च॥ १२ ॥*
एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते॥ १३ ॥*
न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः॥ १४ ॥*
अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥ १५ ॥*

पापी अधर्मियोंकी शीघ्र ही बुरी गति होती है, ऐसा समझकर पुरुषको चाहिये कि धर्मसे दुःख पाता हुआ भी अधर्ममें मन न लगावे॥ ९ ॥ अधर्मी पहले अधर्मसे बढ़ता है फिर उससे अपना भला देखता है, फिर शत्रुओंको जीतता है और फिर जड़सहित नष्ट हो जाता है॥ १० ॥ परलोकमें सहायताके लिये पिता-माता नहीं रहते और न पुत्र, स्त्री या जातिवाले ही पहुँच सकते हैं? वहाँ तो केवल धर्म ही सहायक होता है [इसलिये धर्मका कभी त्याग न करे]॥ ११ ॥ बहुत कालतक सन्ध्योपासन करनेके कारण ही ऋषियोंने दीर्घायु, बुद्धि, यश, कीर्ति (ख्याति) और ब्रह्मतेजकी प्राप्ति की थी॥ १२ ॥ एकाक्षर (ओम्) पर ब्रह्म है, प्राणायाम ही परम तप है, गायत्रीसे बढ़कर कुछ नहीं है और मौनसे भी बढ़कर सत्य है॥ १३ ॥ जो मनुष्य न तो प्रातःसन्ध्योपासन करता है और न सायंसन्ध्योपासन करता है, वह शूद्रके समान सम्पूर्ण द्विज-कर्मोंसे बाहर निकाल देनेयोग्य है॥ १४ ॥ वेदोंका अभ्यास न करनेसे, आचार छोड़ देनेसे, आलस्यसे, अन्नके दोषसे मृत्यु द्विजोंको मारना चाहती है॥ १५ ॥

---

* मनु० ४।१७१, १७४, २३९, ९४; २।८३, १०३; ५।४।

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥ १६॥*
नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥ १७॥*
यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥ १८॥*
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥ १९॥*
मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्॥ २०॥*
आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः॥ २१॥*
यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥ २२॥*

न बहुत वर्षोंसे, न पके हुए श्वेत बालोंसे, न धनसे और न भाईबन्धुओंसे ही कोई बड़ा होता है। ऋषियोंने यह धर्म निश्चय किया है कि जो अङ्गोंसहित वेद पढ़नेवाला है वही हमलोगोंमें बड़ा है॥ १६॥ ब्रह्मचारी नित्य स्नानसे शुद्ध होकर देव-ऋषि-पितृतर्पण और देवताओंका पूजन तथा अग्निहोत्र करे॥ १७॥ जो दुस्तर है, दुःखसे प्राप्त होनेयोग्य है, कठिनतासे गमन करनेयोग्य है और दुष्कर है, वह सब तपसे साध्य हो सकता है, क्योंकि तपका कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता॥ १८॥ जिसका प्रणाम करनेका स्वभाव है और जो नित्य वृद्धोंकी सेवा करता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं॥ १९॥ माता, पिता, बहन, भाई, पुत्र, स्त्री, बेटी और नौकर-चाकर—इनके साथ वादविवाद न करे॥ २०॥ आचार्य, पिता, माता और बड़ा भाई—इनका दुःखी मनुष्य भी अपमान न करे और विशेषकर ब्राह्मण तो कभी इनका अपमान न करे॥ २१॥ मनुष्यकी उत्पत्तिके समय माता-पिता जो क्लेश सहते हैं, उसका बदला सौ वर्षोंमें भी नहीं चुकाया जा सकता॥ २२॥

---

* मनु० २। १५४, १७६; ११। २३८; २। १२१; ४। १८; २। २२५, २२७।

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते॥ २३॥*
सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः॥ २४॥*
पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥ २५॥*
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ २६॥*
पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते॥ २७॥*
नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्॥ २८॥*
अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥ २९॥*
सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥ ३०॥*

इसलिये नित्य ही उन दोनोंका और आचार्यका भी सर्वदा प्रिय करे, इन तीनोंके तुष्ट होनेपर सब तप समाप्त हो जाता है॥ २३॥ जिसने इन तीनोंका आदर किया, उसने सब धर्मोंका आदर कर दिया और जिसने इनका अनादर किया, उसके सब काम निष्फल हैं॥ २४॥ गृहस्थके घरमें चूल्हा, चक्की, बुहारी, ओखली और जलका घड़ा—ये पाँच हिंसाके स्थान हैं, इनको काममें लानेसे गृहस्थ पापमें बँधता है॥ २५॥ पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण पितृयज्ञ है, हवन देवयज्ञ है, बलिवैश्वदेव भूतयज्ञ है और अतिथि-पूजन मनुष्ययज्ञ है॥ २६॥ जो द्विज इन पाँच महायज्ञोंको शक्तिभर नहीं छोड़ता है, वह घरमें रहता हुआ भी नित्यकी [पाँच] हत्याके दोषसे लिप्त नहीं होता॥ २७॥ बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि बिना पूछे और अन्यायसे पूछनेपर कोई उत्तर न दे। वह जानता हुआ भी लोकमें मूढके समान आचरण करे॥ २८॥ अधिक भोजन करना आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्यका नाशक तथा लोकनिन्दित है; इसलिये उसे त्याग दे॥ २९॥ ऐसी सत्य बात बोले जो प्यारी लगे और जो सत्य तो हो; किन्तु प्यारी न लगे ऐसी बात न कहे, और जो प्यारी बात झूठी हो उसे भी न कहे—यही सनातनधर्म है॥ ३०॥

* मनु० २। २२८, २३४; ३। ६८, ७०-७१; २। ११०, ५७; ४। १३८।

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥ ३१॥*
विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम्॥ ३२॥*
लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः।
स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च॥ ३३॥*
अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥ ३४॥*
ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह॥ ३५॥*
सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥ ३६॥*
तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ ३७॥*

पराधीन सब कुछ दुःखरूप है और स्वाधीन सब सुखरूप है—यह संक्षेपसे सुख-दुःखका लक्षण जानना चाहिये॥ ३१॥ विषसे भी अमृतको, बालकसे भी सुन्दर वचनको, वैरीसे भी सुन्दर आचरणको और अशुद्ध जगहसे भी सुवर्णको ले लेना चाहिये॥ ३२॥ जो मनुष्य मिट्टीके ढेलेको मलता है, तृण तोड़ता है, नखोंको चबाता है, चुगली खाता है और अपवित्र रहता है वह शीघ्र नष्ट हो जाता है॥ ३३॥ (मांसके लिये) सम्मति देनेवाला, काटनेवाला, मारनेवाला, खरीदने-बेचनेवाला, पकानेवाला, लानेवाला और खानेवाला—ये घातक होते हैं॥ ३४॥ ब्रह्महत्या, मद्यपान, सुवर्ण आदिकी चोरी, गुरु-स्त्रीगमन और इन चारोंका संसर्ग—ये [पाँच] महापातक हैं॥ ३५॥ सब शुद्धियोंमें धनकी पवित्रता ही श्रेष्ठ कही है; क्योंकि जो धनमें शुद्ध है वही शुद्ध है; मिट्टी और जलकी शुद्धि शुद्धि नहीं कही जाती—[भाव यह है कि जो पराया धन नहीं हरता और न्यायसे धनोपार्जन करता है, वह शुद्ध है और जो अन्यायसे द्रव्य हरता है, किन्तु मिट्टी लगा-लगाकर स्नान करता है; वह पवित्र नहीं है]॥ ३६॥ [अतिथि-सत्कारके लिये] तृणमय आसन, बैठनेकी भूमि, जल और चौथी मीठी वाणी—इनकी कमी सज्जनोंके घरमें कभी नहीं होती है॥ ३७॥

* मनु० ४।१६०; २।२३९; ४।७१; ५।५१; ११।५४; ५।१०६; ३।१०१।

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते॥ ३८॥*

स्त्रीधर्माः

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम्॥ ३९॥*
सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया॥ ४०॥*
नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥ ४१॥*
अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे॥ ४२॥*
पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीणां दूषणानि षट्॥ ४३॥*

जब द्विजातियोंका धर्म रोका जाय अथवा समयके प्रभावसे वर्णविप्लव होने लगे, उस समय द्विजोंको भी शस्त्रग्रहण करना चाहिये॥ ३८॥

स्त्री बाल्यावस्थामें पिताके वशमें, यौवनावस्थामें पतिके वशमें और पतिके मरनेके बाद पुत्रोंके वशमें रहे; स्वतन्त्र कभी न रहे॥ ३९॥ स्त्रीको चाहिये कि सदा प्रसन्नचित्त रहे, घरके कामोंमें कुशल हो, घरकी सामग्रीको अच्छी तरह रखे और हाथ रोककर खर्च करे॥ ४०॥ स्त्रियोंको [पतिसेवाके सिवा] अलग यज्ञ, व्रत और उपवास करनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि स्त्री जो पतिकी सेवा करती है, उसीसे स्वर्गमें आदर पाती है॥ ४१॥ धन-संग्रह, व्यय, शरीर आदिकी शुद्धि, धर्म, रसोई बनाना तथा घरकी सामग्रीकी देख-भाल—इन कार्योंमें ही स्त्रियोंको लगावे॥ ४२॥ मद्य पीना, दुर्जनोंका संसर्ग, पतिका विरह, इधर-उधर घूमना, कुसमयमें सोना और दूसरेके घरमें रहना—ये स्त्रियोंके छः दोष हैं॥ ४३॥

---

* मनु० ८। ३४८; ५। १४८, १५०, १५५; ९। ११, ३१।

चलन्ति तारा रविचन्द्रमण्डलं चलेच्च मेरुर्विचलेच्च मन्दरम्।
कदापि काले पृथिवी चलेच्च वै चलेन्न धर्मः सुजनस्य वाक्यम्॥ ४४॥
अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥ ४५॥*

नीतिसूक्तिः

विद्वत्त्वञ्च नृपत्वञ्च नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते॥ ४६॥*
पण्डिते च गुणाः सर्वे मूर्खे दोषा हि केवलम्।
तस्मान्मूर्खसहस्रेभ्यः प्राज्ञ एको विशिष्यते॥ ४७॥*
परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्॥ ४८॥*
रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः॥ ४९॥*

तारे, सूर्य, चन्द्र, मेरु, मन्दराचल और किसी समय पृथ्वी भी विचलित हो सकती है, परन्तु धर्म और सुजनोंके वाक्य कभी नहीं विचलित होते॥ ४४॥ शरीर अनित्य है, धन भी सदा रहनेवाला नहीं, मृत्यु सदा पास ही रहती है, इसलिये धर्मका संग्रह करना चाहिये॥ ४५॥

विद्वत्ता और राजपद—इन दोनोंकी तुलना कदापि नहीं हो सकती; राजा अपने ही देशमें आदर पाता है, किन्तु विद्वान् सब जगह आदर पाता है॥ ४६॥ पण्डितोंमें सब गुण ही रहते हैं और मूर्खोंमें केवल दोष ही; इसलिये एक पण्डित हजार मूर्खोंसे भी उत्तम है॥ ४७॥ जो आँखके ओट होनेपर काम बिगाड़े और सम्मुख होनेपर मीठी-मीठी बात बनाकर कहे, ऐसे मित्रको मुखपर दूध तथा भीतर विषसे भरे घड़ेके समान त्याग देना चाहिये॥ ४८॥ जो विद्याहीन हैं, वे यदि रूप और यौवनसे सम्पन्न हों तथा उच्च कुलमें उत्पन्न हुए हों तो भी गन्धहीन टेसूके फूलकी तरह शोभा नहीं पाते॥ ४९॥

* चाणक्यनीतेः।

तारांणां भूषणं चन्द्रो नारीणां भूषणं पतिः।
पृथिव्या भूषणं राजा विद्या सर्वस्य भूषणम्॥ ५०॥*
कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न भक्तिमान्।
काणेन चक्षुषा किं वा चक्षुः पीडैव केवलम्॥ ५१॥*
लालयेत् पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्॥ ५२॥*
एकेनापि सुवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना।
वासितं स्याद् वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा॥ ५३॥*
एकेन शुष्कवृक्षेण दह्यमानेन वह्निना।
दह्यते हि वनं सर्वं कुपुत्रेण कुलं यथा॥ ५४॥*
निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः।
न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनि॥ ५५॥*
विद्या मित्रं प्रवासेषु माता मित्रं गृहेषु च।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च॥ ५६॥*

ताराओंका भूषण चन्द्रमा, स्त्रीका भूषण पति और पृथ्वीका भूषण राजा है, किन्तु विद्या सभीका भूषण है॥ ५०॥ जिसमें विद्या और भक्ति नहीं, ऐसे पुत्रके होनेसे क्या लाभ है? कानी आँखके रहनेसे क्या लाभ? उससे तो केवल नेत्रकी पीड़ा ही होती है॥ ५१॥ पाँच वर्षकी अवस्थातक पुत्रकी लालना करनी चाहिये, उसके बाद दस वर्ष [अर्थात् पाँच वर्षसे पंद्रह वर्षकी अवस्था] तक उसे ताड़ना देनी चाहिये और जब वह सोलहवें वर्षकी अवस्थामें पहुँचे तो उससे मित्रके समान बर्ताव करना चाहिये॥ ५२॥ जैसे एक ही उत्तम वृक्ष विकसित होकर अपनी सुगन्धसे समस्त वनको सुवासित कर देता है, वैसे ही एक सुपुत्र समस्त कुलको यशका भागी बनाता है॥ ५३॥ जिस प्रकार एक ही सूखा वृक्ष स्वयं आगसे जलता हुआ समस्त वनको जला देता है, उसी प्रकार एक ही कुपुत्र अपने वंशके नाशका कारण होता है॥ ५४॥ जैसे चन्द्रमा चाण्डालके घरको अपने किरणोंसे वञ्चित नहीं रखता; वैसे ही सज्जन पुरुष गुणहीन प्राणियोंपर भी दया करते हैं॥ ५५॥ परदेशमें विद्या मित्र है, घरमें माता मित्र है, रोगीका औषध मित्र है और मृत व्यक्तिका धर्म मित्र है॥ ५६॥

* चाणक्यनीतेः।

न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद्रिपुः।
व्यवहारेण जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा॥ ५७॥*
दुर्जनः प्रियवादी च्च नैतद्विश्वासकारणम्।
मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदये तु हलाहलम्॥ ५८॥*
दुर्जनः परिहर्त्तव्यो विद्ययालङ्कृतोऽपि सन्।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः॥ ५९॥*
सर्पः क्रूरः खलः क्रूरः सर्पात् क्रूरतरः खलः।
मन्त्रौषधिवशः सर्पः खलः केन निवार्यते॥ ६०॥*
धनानि जीवितञ्चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्।
सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति॥ ६१॥*
आयुषः क्षण एकोऽपि न लभ्यः स्वर्णकोटिभिः।
स चेन्निरर्थकं नीतः का नु हानिस्ततोऽधिका॥ ६२॥*
शरीरस्य गुणानाञ्च दूरमत्यन्तमन्तरम्।
शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः॥ ६३॥*

कोई किसीका मित्र नहीं और कोई किसीका शत्रु नहीं है। बर्तावसे ही मित्र और शत्रु उत्पन्न होते हैं॥ ५७॥ दुष्ट व्यक्ति मीठी बातें करनेपर भी विश्वास करने योग्य नहीं होता, क्योंकि उसकी जीभपर शहदके ऐसा मिठास होता है परन्तु हृदयमें हलाहल विष भरा रहता है॥ ५८॥ दुष्ट व्यक्ति विद्यासे भूषित होनेपर भी त्यागने योग्य है; जिस सर्पके मस्तकपर मणि होती है, वह क्या भयङ्कर नहीं होता?॥ ५९॥ साँप निठुर होता है और दुष्ट भी निठुर होता है; तथापि दुष्ट पुरुष साँपकी अपेक्षा अधिक निठुर होता है, क्योंकि साँप तो मन्त्र और औषधसे वशमें आ सकता है, किन्तु दुष्टका कैसे निवारण किया जाय?॥ ६०॥ बुद्धिमानोंको उचित है कि दूसरेके उपकारके लिये धन और जीवनतकको अर्पण कर दें, क्योंकि इन दोनोंका नाश तो निश्चय ही है, इसलिये सत्कार्यमें इनका त्याग करना अच्छा है॥ ६१॥ जीवनका एक क्षण भी कोटि स्वर्णमुद्रा देनेपर नहीं मिल सकता, वह यदि वृथा नष्ट हो जाय तो इससे अधिक हानि क्या होगी?॥ ६२॥ शरीर और गुण इन दोनोंमें बहुत अन्तर है, शरीर थोड़े ही दिनोंतक रहता है; परन्तु गुण प्रलयकालतक बने रहते हैं॥ ६३॥

---

* चाणक्यनीतेः।

धनिकः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यश्च पञ्चमः।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते तत्र वासं न कारयेत्॥ ६४॥*
मूर्खा यत्र न पूज्यन्ते धान्यं यत्र सुसञ्चितम्।
दम्पत्योः कलहो नास्ति तत्र श्रीः स्वयमागता॥ ६५॥*
अस्ति पुत्रो वशे यस्य भृत्यो भार्या तथैव च।
अभावेऽप्यतिसन्तोषः स्वर्गस्थोऽसौ महीतले॥ ६६॥*
माता यस्य गृहे नास्ति भार्या चाप्रियवादिनी।
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम्॥ ६७॥*
कोकिलानां स्वरो रूपं नारीरूपं पतिव्रतम्।
विद्या रूपं कुरूपाणां क्षमा रूपं तपस्विनाम्॥ ६८॥*
गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः॥ ६९॥*
स जीवति गुणा यस्य धर्मो यस्य च जीवति।
गुणधर्मविहीनस्य जीवनं निष्प्रयोजनम्॥ ७०॥*
दुर्लभं प्राकृतं मित्रं दुर्लभः क्षेमकृत् सुतः।
दुर्लभा सदृशी भार्या दुर्लभः स्वजनः प्रियः॥ ७१॥*

जहाँ धनी, वेद जाननेवाला ब्राह्मण, राजा, नदी और वैद्य—ये पाँचों न हों, वहाँ निवास नहीं करना चाहिये॥ ६४॥ जहाँ मूर्ख नहीं पूजे जाते, जहाँ धान सञ्चित रहता है, जहाँ पति-पत्नीमें कलह नहीं रहता, वहाँ लक्ष्मी स्वयं आ जाती है॥ ६५॥ स्त्री, पुत्र और नौकर जिसके वशमें हैं और जो अभावमें भी अत्यन्त सन्तुष्ट रहता है, वह पृथ्वीपर भी रहकर स्वर्गका सुख भोगता है॥ ६६॥ जिसके घरमें माता नहीं [अर्थात् जिसकी माता मर गयी है] और जिसकी स्त्री कटुवचन बोलनेवाली है, उसको वनमें जाना ही उचित है, क्योंकि उसके लिये जैसा वन है वैसा ही घर भी है॥ ६७॥ कोयलोंकी सुन्दरता स्वर है, स्त्रीका सौन्दर्य सतीत्व है, कुरूपका रूप उसकी विद्या है और तपस्वीका सौन्दर्य क्षमा है॥ ६८॥ अग्नि द्विजाति (ब्राह्मण) का गुरु है, ब्राह्मण सब वर्णोंका गुरु है, स्त्रियोंका एकमात्र पति ही गुरु है और अतिथि सबका गुरु है॥ ६९॥ जिसके गुण और धर्म जीवित हैं वह वास्तवमें जी रहा है, गुण और धर्मरहित व्यक्तिका जीवन निरर्थक है॥ ७०॥ स्वाभाविक मित्र, हितकारी पुत्र , मनके अनुकूल स्त्री और प्रियतम कुटुम्बी मिलना दुर्लभ है॥ ७१॥

* चाणक्यनीतेः।

न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद्रिपुः।
व्यवहारेण जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा॥ ५७॥*
दुर्जनः प्रियवादी च नैतद्विश्वासकारणम्।
मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदये तु हलाहलम्॥ ५८॥*
दुर्जनः परिहर्त्तव्यो विद्ययालङ्कृतोऽपि सन्।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः॥ ५९॥*
सर्पः क्रूरः खलः क्रूरः सर्पात् क्रूरतरः खलः।
मन्त्रौषधिवशः सर्पः खलः केन निवार्यते॥ ६०॥*
धनानि जीवितञ्चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्।
सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति॥ ६१॥*
आयुषः क्षण एकोऽपि न लभ्यः स्वर्णकोटिभिः।
स चेन्निरर्थकं नीतः का नु हानिस्ततोऽधिका॥ ६२॥*
शरीरस्य गुणानाञ्च दूरमत्यन्तमन्तरम्।
शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः॥ ६३॥*

कोई किसीका मित्र नहीं और कोई किसीका शत्रु नहीं है। बर्तावसे ही मित्र और शत्रु उत्पन्न होते हैं॥ ५७॥ दुष्ट व्यक्ति मीठी बातें करनेपर भी विश्वास करने योग्य नहीं होता, क्योंकि उसकी जीभपर शहदके ऐसा मिठास होता है परन्तु हृदयमें हलाहल विष भरा रहता है॥ ५८॥ दुष्ट व्यक्ति विद्यासे भूषित होनेपर भी त्यागने योग्य है; जिस सर्पके मस्तकपर मणि होती है, वह क्या भयङ्कर नहीं होता?॥ ५९॥ साँप निठुर होता है और दुष्ट भी निठुर होता है; तथापि दुष्ट पुरुष साँपकी अपेक्षा अधिक निठुर होता है, क्योंकि साँप तो मन्त्र और औषधसे वशमें आ सकता है, किन्तु दुष्टका कैसे निवारण किया जाय?॥ ६०॥ बुद्धिमानोंको उचित है कि दूसरेके उपकारके लिये धन और जीवनतकको अर्पण कर दें, क्योंकि इन दोनोंका नाश तो निश्चय ही है, इसलिये सत्कार्यमें इनका त्याग करना अच्छा है॥ ६१॥ जीवनका एक क्षण भी कोटि स्वर्णमुद्रा देनेपर नहीं मिल सकता, वह यदि वृथा नष्ट हो जाय तो इससे अधिक हानि क्या होगी?॥ ६२॥ शरीर और गुण इन दोनोंमें बहुत अन्तर है, शरीर थोड़े ही दिनोंतक रहता है; परन्तु गुण प्रलयकालतक बने रहते हैं॥ ६३॥

---

* चाणक्यनीतेः।

धनिकः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यश्च पञ्चमः।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते तत्र वासं न कारयेत्॥ ६४॥*
मूर्खा यत्र न पूज्यन्ते धान्यं यत्र सुसञ्चितम्।
दम्पत्योः कलहो नास्ति तत्र श्रीः स्वयमागता॥ ६५॥*
अस्ति पुत्रो वशे यस्य भृत्यो भार्या तथैव च।
अभावेऽप्यतिसन्तोषः स्वर्गस्थोऽसौ महीतले॥ ६६॥*
माता यस्य गृहे नास्ति भार्या चाप्रियवादिनी।
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम्॥ ६७॥*
कोकिलानां स्वरो रूपं नारीरूपं पतिव्रतम्।
विद्या रूपं कुरूपाणां क्षमा रूपं तपस्विनाम्॥ ६८॥*
गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः॥ ६९॥*
स जीवति गुणा यस्य धर्मो यस्य च जीवति।
गुणधर्मविहीनस्य जीवनं निष्प्रयोजनम्॥ ७०॥*
दुर्लभं प्राकृतं मित्रं दुर्लभः क्षेमकृत् सुतः।
दुर्लभा सदृशी भार्या दुर्लभः स्वजनः प्रियः॥ ७१॥*

जहाँ धनी, वेद जाननेवाला ब्राह्मण, राजा, नदी और वैद्य—ये पाँचों न हों, वहाँ निवास नहीं करना चाहिये॥ ६४॥ जहाँ मूर्ख नहीं पूजे जाते, जहाँ धान सञ्चित रहता है, जहाँ पति-पत्नीमें कलह नहीं रहता, वहाँ लक्ष्मी स्वयं आ जाती है॥ ६५॥ स्त्री, पुत्र और नौकर जिसके वशमें हैं और जो अभावमें भी अत्यन्त सन्तुष्ट रहता है, वह पृथ्वीपर भी रहकर स्वर्गका सुख भोगता है॥ ६६॥ जिसके घरमें माता नहीं [अर्थात् जिसकी माता मर गयी है] और जिसकी स्त्री कटुवचन बोलनेवाली है, उसको वनमें जाना ही उचित है, क्योंकि उसके लिये जैसा वन है वैसा ही घर भी है॥ ६७॥ कोयलोंकी सुन्दरता स्वर है, स्त्रीका सौन्दर्य सतीत्व है, कुरूपका रूप उसकी विद्या है और तपस्वीका सौन्दर्य क्षमा है॥ ६८॥ अग्नि द्विजाति (ब्राह्मण) का गुरु है, ब्राह्मण सब वर्णोंका गुरु है, स्त्रियोंका एकमात्र पति ही गुरु है और अतिथि सबका गुरु है॥ ६९॥ जिसके गुण और धर्म जीवित हैं वह वास्तवमें जी रहा है, गुण और धर्मरहित व्यक्तिका जीवन निरर्थक है॥ ७०॥ स्वाभाविक मित्र, हितकारी पुत्र , मनके अनुकूल स्त्री और प्रियतम कुटुम्बी मिलना दुर्लभ है॥ ७१॥

* चाणक्यनीतेः।

साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः।
तीर्थं फलति कालेन सद्यः साधुसमागमः॥ ७२ ॥*
सत्सङ्गः केशवे भक्तिर्गङ्गाम्भसि निमज्जनम्।
असारे खलु संसारे त्रीणि साराणि भावयेत्॥ ७३ ॥*
शान्तितुल्यं तपो नास्ति न सन्तोषात् परं सुखम्।
न तृष्णायाः परो व्याधिर्न च धर्मो दयासमः॥ ७४ ॥*
अन्नदाता भयत्राता विद्यादाता तथैव च।
जनिता चोपनेता च पञ्चैते पितरः स्मृताः॥ ७५ ॥*
आदौ माता गुरोः पत्नी ब्राह्मणी राजपत्निका।
धेनुर्धात्री तथा पृथ्वी सप्तैता मातरः स्मृताः॥ ७६ ॥*
आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥ ७७ ॥*
समुद्रावरणा भूमिः प्राकारावरणं गृहम्।
नरेन्द्रावरणो देशश्चरित्रावरणाः स्त्रियः॥ ७८ ॥*

साधुओंका दर्शन पावन है, क्योंकि वे तीर्थस्वरूप होते हैं, तीर्थका फल तो देरसे मिलता है परन्तु साधुसमागमका फल तत्काल प्राप्त होता है॥ ७२॥ इस असार संसारमें साधु-सङ्गति, ईश्वर-भक्ति और गङ्गा-स्नान—इन तीनोंको ही सार समझना चाहिये॥ ७३॥ शान्तिके समान तप नहीं, सन्तोषके समान सुख नहीं, लोभके सदृश रोग नहीं और दयाके समान धर्म नहीं है॥ ७४॥ अन्न देनेवाला, भयसे बचानेवाला, विद्या पढ़ानेवाला, जन्म देनेवाला और यज्ञोपवीत आदि संस्कार करानेवाला—ये पाँच पिता कहे जाते हैं॥ ७५॥ अपनी जननी, गुरु-पत्नी, ब्राह्मण-पत्नी, राजपत्नी, गाय, धात्री (दूध पिलानेवाली दाई) और पृथ्वी—ये सात माताएँ कही गयी हैं॥ ७६॥ इन्द्रियोंको वशमें नहीं लाना सब विपत्तियोंका मार्ग बतलाया गया है और इनको जीत लेना सब प्रकारके सुखोंका उपाय है; इन दोनोंमें जो मार्ग उत्तम है उसीसे गमन करना चाहिये॥ ७७॥ पृथ्वीकी रक्षा समुद्रसे, गृहकी रक्षा चहारदिवारीसे, देशकी रक्षा राजासे और स्त्रीकी रक्षा उत्तम चरित्रसे है॥ ७८॥

* चाणक्यनीतेः।

परोपकरणं येषां जागर्त्ति हृदये सताम्।
नश्यन्ति विपदस्तेषां सम्पदः स्युः पदे पदे॥ ७९॥*
नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्॥ ८०॥*
पादपानां भयं वातात् पद्मानां शिशिराद्भयम्।
पर्वतानां भयं वज्रात् साधूनां दुर्जनाद्भयम्॥ ८१॥*
सुभिक्षं कृषके नित्यं नित्यं सुखमरोगिणः।
भार्या भर्तुः प्रिया यस्य तस्य नित्योत्सवं गृहम्॥ ८२॥*
प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं धनम्।
तृतीये नार्जितं पुण्यं चतुर्थे किं करिष्यति॥ ८३॥*
क्षमया दयया प्रेम्णा सूनृतेनार्जवेन च।
वशीकुर्याज्जगत् सर्वं विनयेन च सेवया॥ ८४॥*
अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥ ८५॥*

जिन सज्जनोंके मनमें सदा परोपकार करनेकी इच्छा बनी रहती है, उनकी विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और उन्हें पग-पगपर सम्पत्ति प्राप्त होती है॥ ७९॥ विद्याके समान नेत्र नहीं, सत्यके समान तप नहीं, [संसारकी वस्तुओंमें] आसक्तिके समान दुःख नहीं और त्यागके समान सुख नहीं है॥ ८०॥ वृक्षोंको आँधीसे, कमलोंको ओससे, पर्वतोंको वज्रसे और साधुओंको दुर्जनसे डर है॥ ८१॥ जो कृषिकर्म करता है, उसके अन्नका अभाव नहीं रहता, जो नीरोग है वह सदा सुखी रहता है और जिस स्वामीकी स्त्री उसको प्यारी है उसके घरमें सदा आनन्द रहता है॥ ८२॥ जिसने प्रथम अवस्था (लड़कपन) में विद्या नहीं पढ़ी, दूसरी (युवा) अवस्थामें धन नहीं कमाया और तीसरी (प्रौढ़) अवस्थामें धर्म नहीं किया; वह चौथी अवस्था (बुढ़ापे) में क्या करेगा?॥ ८३॥ क्षमा, दया, प्रेम, मधुर वचन, सरल स्वभाव, नम्रता और सेवासे सब संसारको वशमें करना चाहिये॥ ८४॥ बुद्धिमान्‌को उचित है कि अपनेको अजर और अमर समझकर विद्या एवं धनका उपार्जन करे और मृत्यु केश पकड़े खड़ी है—यह सोचकर धर्म करे॥ ८५॥

---

* चाणक्यनीतेः।

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शनम्।
सर्वस्य लोचनं ज्ञानं यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥ ८६॥*
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्॥ ८७॥*
प्रविचार्योत्तरं देयं सहसा न वदेत् क्वचित्।
शत्रोरपि गुणा ग्राह्या दोषास्त्याज्या गुरोरपि॥ ८८॥*
हस्तस्य भूषणं दानं सत्यं कण्ठस्य भूषणम्।
कर्णस्य भूषणं शास्त्रं भूषणैः किं प्रयोजनम्॥ ८९॥*
तृणं ब्रह्मविदः स्वर्गस्तृणं शूरस्य जीवितम्।
जिताक्षस्य तृणं नारी निःस्पृहस्य तृणं जगत्॥ ९०॥*
पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्द्धनम्।
उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये॥ ९१॥*
षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता॥ ९२॥*

जो अनेकों सन्देहोंको दूर करनेवाला और परोक्ष अर्थको दिखानेवाला है, वह ज्ञान सभीका नेत्र है, जिसमें ज्ञान नहीं वह निरा अन्धा है॥ ८६॥ दुष्टोंके मन, वचन एवं कर्ममें और-और भाव होते हैं, परन्तु सज्जनोंके मन, वचन एवं कर्म तीनोंमें एक ही भाव रहता है॥ ८७॥ [किसी विषयमें] एकाएक न बोले, सोच-विचारकर जवाब देना उचित है। शत्रुमें भी यदि गुण रहें तो उन्हें लेना चाहिये और गुरुमें भी दोष हों तो उन्हें त्याग देना चाहिये॥ ८८॥ दान हाथका भूषण है, सच बोलना कण्ठका भूषण है, शास्त्र-वचन कानका भूषण है, [फिर] दूसरे भूषणोंकी क्या आवश्यकता है?॥ ८९॥ ब्रह्मज्ञानीके लिये स्वर्ग, वीरके लिये जीवन, जितेन्द्रियके लिये नारी और निर्लोभके लिये समस्त संसार तिनकेके बराबर है॥ ९०॥ जैसे साँपको दूध पिलाना उसका विष बढ़ानामात्र है, वैसे ही मूर्खको उपदेश देना उसके क्रोधको बढ़ाना है, शान्त करना नहीं॥ ९१॥ निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रता—ये छः दोष इस संसारमें ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको छोड़ देने चाहिये॥ ९२॥

---

* चाणक्यनीतेः।

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः॥ ९३॥*
परदारान् परद्रव्यं परीवादं परस्य च।
परीहासं गुरोः स्थाने चापल्यं च विवर्जयेत्॥ ९४॥*
वृथा वृष्टिः समुद्रेषु वृथा तृप्तस्य भोजनम्।
वृथा दानं समर्थस्य वृथा दीपो दिवापि च॥ ९५॥*
त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधुसमागमम्।
कुरु पुण्यमहोरात्रं स्मर नित्यमनित्यताम्॥ ९६॥*
दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥ ९७॥*
सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रविः।
सत्येन वायवो वान्ति सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥ ९८॥*
कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरे व्यवसायिनाम्।
को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम्॥ ९९॥*

उद्योगी वीर पुरुषको लक्ष्मी मिलती है, कायर कहा करते हैं कि [जो मिलता है वह] 'भाग्यसे मिलता है', भाग्यकी बात छोड़कर अपनी शक्तिसे पुरुषार्थ करो; यत्न करनेपर भी यदि कार्य सिद्ध न हो तो इसमें दोष ही क्या है?॥ ९३॥ पर-स्त्री, पर-धन, पर-निन्दा, परिहास और बड़ोंके सामने चञ्चलता—इनका त्याग करना चाहिये॥ ९४॥ समुद्रमें वृष्टि, भर पेट खाये हुएको भोजन, समृद्धिमान्‌को दान और दिनमें दीपक—ये व्यर्थ ही होते हैं॥ ९५॥ खलका सङ्ग छोड़, साधुकी सङ्गति कर, दिन-रात पुण्य किया कर, संसार अनित्य है—इस प्रकार निरन्तर विचार करता रह॥ ९६॥ देख-भालकर पैर रखना चाहिये, कपड़ेसे छानकर पानी पीना चाहिये, सच्ची बात कहनी चाहिये और जो मनको पवित्र जान पड़े वह आचरण करना चाहिये॥ ९७॥ सत्यने ही पृथ्वीको धारण कर रखा है, सत्यसे ही सूर्य तपता है और सत्यसे ही वायु चलती है, सब कुछ सत्यमें ही स्थित है॥ ९८॥ शक्तिशालीके लिये अधिक बोझ क्या है, व्यापारीके लिये दूर क्या है? विद्वान्‌के लिये विदेश और मधुरभाषीके लिये शत्रु कौन है?॥ ९९॥

---

* चाणक्यनीतेः।

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥ १००॥*
दरिद्रता धीरतया विराजते कुरूपता शीलतया विराजते।
कुभोजनं चोष्णतया विराजते कुवस्त्रता शुभ्रतया विराजते॥ १०१॥*
यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदनतापताडनैः।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते श्रुतेन शीलेन कुलेन कर्मणा॥ १०२॥*
अनभ्यासे विषं विद्या अजीर्णे भोजनं विषम्।
विषं गोष्ठी दरिद्रस्य भोजनान्ते जलं विषम्॥ १०३॥*
मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः॥ १०४॥*
दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन स्नानेन शुद्धिर्न तु चन्दनेन।
मानेन तृप्तिर्न तु भोजनेन ज्ञानेन मुक्तिर्न तु मण्डनेन॥ १०५॥*
कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ।
कस्याहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः॥ १०६॥*

मूर्खको प्रतिदिन सैकड़ों भयके और हजारों शोकके मौके आ पड़ते हैं, पर विद्वान्‌को नहीं॥ १००॥ दरिद्रता धीरजसे, कुरूपता अच्छे स्वभावसे, कुभोजन भी गर्म रहनेसे और पुराना कपड़ा भी स्वच्छ होनेसे शोभा पाता है॥ १०१॥ जिस प्रकार घिसने, काटने, तपाने और पीटने—इन चार प्रकारोंसे सुवर्णकी परीक्षा होती है उस प्रकार विद्या, कुल, शील और कर्म—इन चारोंसे ही पुरुषकी परीक्षा होती है॥ १०२॥ बिना अभ्यास किये पढ़ी हुई विद्या, बिना पचे ही किया हुआ भोजन, दरिद्रके लिये [धनिकोंकी] सभा और भोजनसमाप्तिके समय जल पीना—ये सब विषके समान हैं॥ १०३॥ जो पर-स्त्रियोंको माताके समान, पर-धनको मिट्टीके ढेलेके समान तथा समस्त प्राणियोंको अपने ही समान देखता है, वही वास्तवमें पण्डित है॥ १०४॥ दान देनेसे ही हाथकी शोभा है, गहनोंसे नहीं, स्नान करनेसे ही शुद्धि होती है, चन्दनसे नहीं; सम्मानसे तृप्ति होती है, केवल भोजनसे नहीं और ज्ञानसे ही मुक्ति होती है, केवल वेषभूषा धारण करनेसे नहीं॥ १०५॥ समय कैसा है? मित्र कौन हैं? देश कौन-सा है? आय और व्यय कितना है? मैं किसका हूँ? और मेरी शक्ति कितनी है? इसका बार-बार विचार करना चाहिये॥ १०६॥

---

* चाणक्यनीतेः।

अत्यन्तकोपः कटुका च वाणी दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम्।
नीचप्रसङ्गः कुलहीनसेवा चिह्नानि देहे नरकस्थितानाम्॥ १०७॥*
धनधान्यप्रयोगेषु विद्यासंग्रहणेषु च।
आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत्॥ १०८॥*
गुणैरुत्तमतां याति नोच्चैरासनसंस्थितः।
प्रासादशिखरस्थोऽपि काकः किं गरुडायते॥ १०९॥*
प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता॥ ११०॥*
पुस्तकेषु च या विद्या परहस्तेषु यद्धनम्।
उत्पन्नेषु च कार्येषु न सा विद्या न तद्धनम्॥ १११॥*
सन्तोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु चैव न कर्तव्योऽध्ययने जपदानयोः॥ ११२॥*
विप्रयोर्विप्रवह्न्योश्च दम्पत्योः स्वामिभृत्ययोः।
अन्तरेण न गन्तव्यं हलस्य वृषभस्य च॥ ११३॥*
पादाभ्यां न स्पृशेदग्निं गुरुं ब्राह्मणमेव च।
नैव गां च कुमारीं च न वृद्धं न शिशुं तथा॥ ११४॥*

अति क्रोध, कटुवचन, दरिद्रता, आत्मीय जनोंसे वैर, नीचोंका सङ्ग और नीचकी सेवा—ये नरकमें रहनेवालोंके लक्षण हैं॥ १०७॥ अन्न-धनके उपभोगमें, विद्योपार्जनमें, भोजनमें और व्यवहारमें लज्जाको त्याग देनेवाला सुखी होता है॥ १०८॥ प्राणी गुणोंसे उत्तम होता है, ऊँचे आसनपर बैठकर नहीं, कोठेके कँगूरेपर बैठा हुआ कौआ क्या गरुड हो जाता है?॥ १०९॥ मधुर वचनके बोलनेसे सब जीव सन्तुष्ट होते हैं, इस कारण वैसा ही बोलना चाहिये, वचनमें क्या दरिद्रता है?॥ ११०॥ जो विद्या पुस्तकोंमें ही रहती है और जो धन दूसरोंके हाथोंमें रहता है, काम पड़ जानेपर न वह विद्या है और न वह धन ही है॥ १११॥ अपनी स्त्री, भोजन और धन—इन तीनोंमें सन्तोष करना चाहिये। पढ़ना, जप और दान—इन तीनोंमें सन्तोष कभी नहीं करना चाहिये॥ ११२॥ दो ब्राह्मणोंके, ब्राह्मण और अग्निके, पति-पत्नीके, स्वामी तथा भृत्यके एवं हल और बैलके बीचसे होकर नहीं जाना चाहिये॥ ११३॥ अग्नि, गुरु, ब्राह्मण, गौ, कुमारी, वृद्ध और बालक—इनको पैरसे न छूना चाहिये॥ ११४॥

* चाणक्यनीतेः।

आप्तद्वेषाद्भवेन्मृत्युः परद्वेषाद्धनक्षयः।
राजद्वेषाद्भवेन्नाशो ब्रह्मद्वेषात्कुलक्षयः॥ ११५॥*
सदा प्रसन्नं मुखमिष्टवाणी सुशीलता च स्वजनेषु सख्यम्।
सतां प्रसङ्गः कुलहीनहानं चिह्नानि देहे त्रिदिवस्थितानाम्॥ ११६॥
राजा धर्ममृते द्विजः पवमृते विद्यामृते योगिनः
कान्ता सत्त्वमृते हयो गतिमृते भूषा च शोभामृते।
योद्धा शूरमृते तपो व्रतमृते गीतं च पद्यान्यृते
भ्राता स्नेहमृते नरो हरिमृते लोके न भाति क्वचित्॥ ११७॥
वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणा-
न्मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति॥ ११८॥†
येषां न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥ ११९॥†

बड़ोंके द्वेषसे मृत्यु, शत्रुके विरोधसे धनका क्षय, राजाके द्वेषसे नाश और ब्राह्मणके द्वेषसे कुलका क्षय होता है॥ ११५॥ सदा प्रसन्नमुख रहना, प्रिय बोलना, सुशीलता, आत्मीय जनोंमें प्रेम, सज्जनोंका सङ्ग और नीचोंकी उपेक्षा—ये स्वर्गमें रहनेवालोंके लक्षण हैं॥ ११६॥ धर्म बिना राजा, पवित्रताके बिना द्विज, ब्रह्मविद्याके बिना योगी, सतीत्वके बिना स्त्री, चाल बिना घोड़ा, सुन्दरताके बिना गहना, बिना वीरके योद्धा, बिना व्रतके तप, पद्यके बिना गान, स्नेहके बिना भाई और भगवत्प्रेमके बिना मनुष्य, संसारमें कहीं सुशोभित नहीं होते॥ ११७॥ जिसके शरीरमें समस्त लोकोंको प्रिय लगनेवाले शीलका विकास होता है उसके लिये आग शीतल हो जाती है, समुद्र छोटी नदी बन जाता है, मेरु छोटा-सा शिलाखण्ड प्रतीत होता है, सिंह सामने आते ही हिरन हो जाता है, साँप मालाका काम देता है और विष अमृत बन जाता है॥ ११८॥ जिनमें न विद्या है, न ज्ञान है, न शील है, न गुण है और न धर्म है, वे मृत्युलोकमें पृथ्वीके भार हुए मनुष्यरूपसे मानो पशु ही घूमते-फिरते हैं॥ ११९॥

* चाणक्यनीतेः † भर्तृहरेः।

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्॥ १२०॥*
विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतं
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः॥ १२१॥*
रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयता-
मम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः।
केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः॥ १२२॥*
मौनान्मूकः प्रवचनपटुश्चाटुलो जल्पको वा
धृष्टः पार्श्वे वसति च तदा दूरतश्चाप्रगल्भः।

पुरुषको न तो केयूर (बाजूबंद), न चन्द्रमाके समान उज्ज्वल हार, न स्नान, न उबटन, न फूल और न सजाये हुए बाल ही सुशोभित कर सकते हैं, पुरुष यदि संस्कृत वाणीको धारण करे तो एकमात्र वही उसकी शोभा बढ़ा सकती है, इसके अतिरिक्त और जितने भूषण हैं, वे तो सब नष्ट हो जाते हैं, सच्चा भूषण तो वाणी ही है॥ १२०॥ विद्या मनुष्यका एक विशेष सौन्दर्य है, छिपा हुआ सुरक्षित धन है, विद्या, भोग, यश और सुखको देनेवाली है, विद्या गुरुओंकी भी गुरु है, वह परदेशमें जानेपर स्वजनके समान सहायता करनेवाली है। विद्या ही सबसे बड़ी देवता है, राजाओंमें विद्याका ही सम्मान होता है, धनका नहीं, विद्याके बिना तो मनुष्य पशुके समान है॥ १२१॥ अरे मित्र पपीहे! सावधान मनसे जरा एक क्षण सुन तो! अरे, आकाशमें मेघ तो बहुत हैं, किन्तु सब एक-से ही नहीं हैं, कोई तो बार-बार वर्षा करके पृथिवीको गीली कर देते हैं और कोई व्यर्थ ही गरजते हैं। तू जिस-जिसको देखे उसी-उसीके सामने दीन वचन मत बोल॥ १२२॥ मनुष्य चुप रहनेसे गूँगा, चतुर वक्ता होनेसे चापलूस या बकवादी कहलाता है, इसी प्रकार यदि पासमें बैठे हो तो ढीठ, दूर रहे तो दब्बू,

* भर्तृहरेः।

क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ १२३ ॥*
गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥ १२४ ॥*
ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥ १२५ ॥*
दाक्षिण्यं स्वजने दया परजने शाठ्यं सदा दुर्जने
प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जनेष्वार्जवम्।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धूर्तता
ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः ॥ १२६ ॥*
साधुस्त्रीणां दयितविरहे मानिनो मानभङ्गे

क्षमा रखे तो डरपोक और अन्याय न सह सके तो प्रायः बुरा समझा जाता है; इसलिये सेवाधर्म बहुत ही कठिन है, इसे योगी भी नहीं जान पाते॥ १२३॥ अच्छा या बुरा किसी भी कामका आरम्भ करनेवाले विद्वान्‌को पहले ही यत्नपूर्वक उसके भले-बुरे परिणामका निश्चय कर लेना चाहिये; क्योंकि बहुत जल्दमें किये गये कर्मोंका दुष्परिणाम मरनेतक मनुष्यके हृदयमें जलन पैदा करनेवाला और शूलके समान चुभनेवाला होता है॥ १२४॥ ऐश्वर्यकी शोभा सुजनतासे है, शूरवीरताकी शोभा कम बोलना है, ज्ञानकी शान्ति, शास्त्राध्ययनकी नम्रता, धनकी सत्पात्रको दान करना, तपकी अक्रोध, समर्थकी क्षमा, धर्मकी दम्भहीनता और सबकी शोभा सुशीलता है, जो सभी सद्‌गुणोंकी हेतु है॥ १२५॥ आत्मीय जनोंपर उदारता, दूसरोंपर दया, दुष्टोंसे शठता, साधुओंसे प्रीति, राजाओंसे नीति, विद्वानोंसे सरलता, शत्रुओंपर वीरता, बड़ोंपर क्षमा और स्त्रियोंसे चालाकी रखना—इन सब गुणोंमें जो निपुण हैं, उन्हींपर लोकमर्यादा निर्भर रहती है॥ १२६॥ प्रियतम पतिके वियोगमें सती स्त्रियोंका, सम्मान-भङ्ग होनेपर प्रतिष्ठित पुरुषोंका,

---

* भर्तृहरिशतकात्।

सल्लोकानामपि जनरवे निग्रहे पण्डितानाम्।
अन्योद्रेके कुटिलमनसां निर्गुणानां विदेशे
भृत्याभावे भवति मरणं किन्तु सम्भावितानाम्॥१२७॥
क्वचिद्रुष्टः क्वचित्तुष्टो रुष्टस्तुष्टः क्षणे क्षणे।
अव्यवस्थितचित्तस्य प्रसादोऽपि भयङ्करः॥१२८॥*
अपमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः।
स्वकार्यमुद्धरेत्प्राज्ञः कार्यध्वंसो हि मूर्खता॥१२९॥*
देवे तीर्थे द्विजे मन्त्रे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी॥१३०॥†
नागो भाति मदेन कं जलरुहैः पूर्णेन्दुना शर्वरी
शीलेन प्रमदा जवेन तुरगो नित्योत्सवैर्मन्दिरम्।
वाणी व्याकरणेन हंसमिथुनैर्नद्यः सभा पण्डितैः
सत्पुत्रेण कुलं नृपेण वसुधा लोकत्रयं विष्णुना॥१३१॥‡
वृक्षं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगाः शुष्कं सरः सारसाः
पुष्पं पर्युषितं त्यजन्ति मधुपा दग्धं वनान्तं मृगाः।

लोकापवाद होनेपर सत्पुरुषोंका, शास्त्रार्थमें पराजय होनेपर पण्डितोंका, दूसरोंका उत्कर्ष देखकर कुटिल हृदयवालोंका, विदेशमें गुणहीन मनुष्योंका और नौकर न रहनेपर अमीर लोगोंका मरण-सा हो जाता है॥ १२७॥ जो कभी रुष्ट होता है, कभी प्रसन्न होता है; इस प्रकार क्षण-क्षणमें रुष्ट और प्रसन्न होता रहता है, उस चञ्चलचित्त पुरुषकी प्रसन्नता भी भयङ्कर ही है॥ १२८॥ अपमानको आगे कर और सम्मानकी ओर दृष्टि न देकर बुद्धिमान्‌को अपना कार्य-साधन करना चाहिये; क्योंकि काम बिगाड़ना मूर्खता है॥ १२९॥ देवता, तीर्थ, ब्राह्मण, मन्त्र, ज्योतिषी, औषध और गुरुमें जिसकी जैसी भावना रहती है, उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है॥ १३०॥ गजराज मदसे, जल कमलोंसे, रात्रि पूर्ण चन्द्रसे, स्त्री शीलसे, घोड़ा वेगसे, मन्दिर नित्यके उत्सवोंसे, वाणी व्याकरणसे, नदी हंसके जोड़ेसे, सभा पण्डितोंसे, कुल सुपुत्रसे, पृथ्वी राजासे और त्रिलोकी भगवान् विष्णुसे सुशोभित होती है॥ १३१॥ पक्षी फल न रहनेपर वृक्षको छोड़ देते हैं, सारस जल सूख जानेपर सरोवरका परित्याग कर देते हैं, भौंरे बासी फूलको, मृग दग्ध वनको,

* घटखर्परस्य नीतिसारात्।
† हलायुधस्य धर्मविवेकात्। ‡ काव्यसंग्रहात्।

निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिका भ्रष्टश्रियं मन्त्रिणः
सर्वः कार्यवशाज्जनोऽभिरमते कस्यास्ति को वल्लभः॥ १३२॥*
मित्रं स्वच्छतया रिपुं नयबलैर्लुब्धं धनैरीश्वरं
कार्येण द्विजमादरेण युवतिं प्रेम्णा समैर्बान्धवान्।
अत्युग्रं स्तुतिभिर्गुरुं प्रणतिभिर्मूर्खं कथाभिर्बुधं
विद्याभी रसिकं रसेन सकलं शीलेन कुर्याद्वशम्॥ १३३॥†
गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी सुसम्भ्रमाद्यस्य।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी नाम॥ १३४॥‡
वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतं
वरं क्लैब्यं पुंसां न च परकलत्राभिगमनम्।
वरं प्राणत्यागो न च पिशुनवाक्येष्वभिरुचि-
र्वरं भिक्षाशित्वं न च परधनास्वादनसुखम्॥ १३५॥

वेश्या निर्धन पुरुषको तथा मन्त्रीगण श्रीहीन राजाको छोड़ देते हैं, सब लोग अपने-अपने स्वार्थवश ही प्रेम करते हैं, वास्तवमें कौन किसका प्रिय है?॥ १३२॥ मित्रको स्वच्छता (निष्कपट हृदय) से जीते, शत्रुको नीतिबलसे, लोभीको धनसे, स्वामीको कार्यसे, ब्राह्मणको आदरसे, युवतीको प्रेमसे, बन्धुओंको समभावसे, अत्यन्त क्रोधीको स्तुतिसे, गुरुको विनयसे, मूर्खको बातोंसे, बुद्धिमान्को विद्यासे, रसिकको रसिकतासे और सभीको सुशीलतासे वशीभूत करे॥ १३३॥ गुणीजनोंकी गणना आरम्भ करते समय जिसके लिये लेखनी शीघ्रतासे नहीं चलती, उस पुत्रसे यदि माता पुत्रवती कही जाय तो कहो वन्ध्या कैसी स्त्री होगी?॥ १३४॥ चुप रहना अच्छा है पर मिथ्या वचन कहना अच्छा नहीं, पुरुषका नपुंसक हो जाना अच्छा है परन्तु परस्त्रीगमन अच्छा नहीं, प्राण परित्याग कर देना अच्छा है; परन्तु चुगुलोंकी बातोंमें रुचि रखना अच्छा नहीं, और भिक्षा माँगकर खा लेना अच्छा है; परन्तु दूसरोंके धनके उपभोगका सुख अच्छा नहीं है॥ १३५॥

---

* काव्यसंग्रहात्।

† नवरत्नानां नवरत्नसंग्रहात्, नवरत्नानां नामानि—
धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

‡ हितोपदेशे।

पठतो नास्ति मूर्खत्वं जपतो नास्ति पातकम्।
जाग्रतस्तु भयं नास्ति कलहो नास्ति मौनिनः॥ १३६॥
मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते
कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम्।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या॥ १३७॥
उदारस्य तृणं वित्तं शूरस्य मरणं तृणम्।
विरक्तस्य तृणं भार्या निःस्पृहस्य तृणं जगत्॥ १३८॥
ललितान्तानि गीतानि कुवाक्यान्तं च सौहृदम्।
प्रणामान्तः सतां कोपो याचनान्तं हि गौरवम्॥ १३९॥
स्वगृहे पूज्यते मूर्खः स्वग्रामे पूज्यते प्रभुः।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते॥ १४०॥
अर्थातुराणां न गुरुर्न बन्धुः कामातुराणां न भयं न लज्जा।
विद्यातुराणां न सुखं न निद्रा क्षुधातुराणां न रुचिर्न वेला॥ १४१॥

जो विद्याध्ययन करता है, उसमें मूर्खता नहीं रह सकती, जो जप करता है, उसके पाप नहीं रह सकते, जो जागरित है, उसको कोई भय नहीं सता सकता और जो मौनी है, उसका किसीसे कलह नहीं हो सकता॥ १३६॥ कल्पलताके समान विद्या संसारमें क्या-क्या सिद्ध नहीं करती? माताके समान वह रक्षा करती है, पिताके समान स्वहितमें नियुक्त करती है, स्त्रीके समान खेदका परिहार करके आनन्दित करती है, लक्ष्मीकी वृद्धि करती है और दिशा-विदिशाओंमें कीर्तिका विस्तार करती है॥ १३७॥ उदारके लिये धन, शूरवीरके लिये मरण, विरक्तके लिये स्त्री और निःस्पृहके लिये जगत् तिनकेके तुल्य है॥ १३८॥ गानका समसे, प्रेमका कटुवचनसे, सज्जनोंके क्रोधका प्रणाम करनेसे और गौरवका याचना करनेसे अन्त हो जाता है॥ १३९॥ मूर्ख अपने घरमें, समर्थ पुरुष अपने गाँवमें, राजा अपने देशमें और विद्वान् सर्वत्र ही पूजा जाता है॥ १४०॥ अर्थातुरों (स्वार्थियों) को न कोई गुरु होता है न बन्धु, कामातुरोंको न भय रहता है न लज्जा, विद्यातुरों (विद्याप्रेमियों) को न सुख रहता है न नींद तथा क्षुधातुरोंके लिये न स्वाद होता है न भोजन करनेका कोई नियत समय ही॥ १४१॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
धर्मो न वै यत्र च नास्ति सत्यं सत्यं न तद्यच्छलनानुविद्धम्॥ १४२॥
मात्रा समं नास्ति शरीरपोषणं चिन्तासमं नास्ति शरीरशोषणम्।
भार्यासमं नास्ति शरीरतोषणं विद्यासमं नास्ति शरीरभूषणम्॥ १४३॥
सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥ १४४॥*
विद्यातीर्थे जगति विबुधाः साधवः सत्यतीर्थे
गङ्गातीर्थे मलिनमनसो योगिनो ध्यानतीर्थे।
धारातीर्थे धरणिपतयो दानतीर्थे धनाढ्या
लज्जातीर्थे कुलयुवतयः पातकं क्षालयन्ते॥ १४५॥
सुलभाः पुरुषा लोके सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥ १४६॥†
सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः
सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः।

जिसमें वृद्ध न हों वह सभा नहीं, जो धर्मोपदेश नहीं करते वे वृद्ध नहीं, जिसमें सत्य न हो वह धर्म नहीं और जो छलयुक्त हो वह सत्य सत्य नहीं॥ १४२॥ माताके समान शरीरका पालन-पोषण करनेवाली, चिन्ताके समान देहको सुखानेवाली, स्त्रीके समान शरीरको सुख देनेवाली और विद्याके समान अङ्गका आभूषण दूसरा कोई नहीं है॥ १४३॥ हठात् कोई कार्य न कर बैठे; क्योंकि नासमझीसे भारी विपत्तियाँ आ पड़ती हैं और सोच-विचारकर करनेवालेकी ओर उसके गुणोंसे मोहित हो सम्पत्ति स्वयं दौड़ आती है॥ १४४॥ संसारमें बुद्धिमान् जन विद्यारूपी तीर्थमें, साधु सत्यरूपी तीर्थमें, मलिन मनवाले गङ्गातीर्थमें, योगिजन ध्यानतीर्थमें, राजा लोग पृथ्वीतीर्थमें, धनी जन दानतीर्थमें और कुल-स्त्रियाँ लज्जातीर्थमें अपने पापोंको धोती हैं॥ १४५॥ इस दुनियाँ में मीठी-मीठी बातें बनानेवाले बहुत पाये जाते हैं पर कड़वी और हितकारक वाणीके कहने तथा सुननेवाले दोनों ही दुर्लभ हैं॥ १४६॥ अच्छी प्रकार पचा हुआ अन्न, सुशिक्षित पुत्र, भली प्रकार शासनके अंदर रखी हुई स्त्री, अच्छी तरह सेवित राजा,

* भारवेः

† बल्लालस्य भोजप्रबन्धे।

सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम्॥ १४७॥*
उपकारः परो धर्मः परार्थं कर्म नैपुणम्।
पात्रे दानं परः कामः परो मोक्षो वितृष्णता॥ १४८॥

अष्टमोल्लास

सत्सङ्गसूक्तिः

कल्पद्रुमः कल्पितमेव सूते
सा कामधुक्कामितमेव दोग्धि।
चिन्तामणिश्चिन्तितमेव दत्ते
सतां हि सङ्गः सकलं प्रसूते॥ १॥
तृष्णां छिन्ते शमयति मदं ज्ञानमाविष्करोति
नीतिं सूते हरति विपदं सम्पदं संचिनोति।
पुंसां लोकद्वितयशुभदा सङ्गतिस्सज्जनानां
किं वा कुर्यान्न फलममलं दुःखनिर्णाशदक्षा॥ २॥†

विचारपूर्ण भाषण और समझ-बूझकर किया हुआ कर्म—इन सबमें बहुत काल बीत जानेपर भी दोष उत्पन्न नहीं होता॥ १४७॥ उपकार ही परमधर्म है, दूसरोंके लिये किया हुआ कर्म चातुर्य है, सत्पात्रको दान देना ही परम काम (काम्य वस्तु) है और तृष्णाहीनता ही परम मोक्ष है॥ १४८॥

कल्पवृक्ष केवल कल्पित वस्तुएँ ही देता है, कामधेनु केवल इच्छित भोग ही प्रदान करती है तथा चिन्तामणि भी चिन्तित पदार्थ ही देती है; किन्तु सत्पुरुषोंका सङ्ग सभी कुछ देता है॥ १॥ सज्जनोंकी सङ्गति पुरुषोंके लिये दोनों लोकोंमें शुभकी प्राप्ति करानेवाली है, दुःख-दलनमें दक्ष है, भला वह कौन-सा निर्मल फल नहीं दे सकती? वह चित्तकी तृष्णा और मदको शान्त कर देती है, ज्ञानका आविर्भाव करती है, नीतिको जन्म देती है, विपत्तिका क्षय और सम्पत्तिका सञ्चय करती है॥ २॥

* हितोपदेशे। † अमितगतेः।

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥ ३॥*
न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥ ४॥*
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥ ५॥*
न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तप आदिभिः।
यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया॥ ६॥*
रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥ ७॥*
जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥ ८॥†

यदि भगवान्में आसक्त रहनेवाले संतोंका क्षणभर भी सङ्ग प्राप्त हो तो उससे स्वर्ग और मोक्षतककी तुलना नहीं कर सकते, फिर अन्य अभिलषित पदार्थोंकी तो बात ही क्या है?॥ ३॥ समस्त आसक्तियोंको दूर करनेवाला सत्सङ्ग जिस प्रकार मुझे वशीभूत करता है वैसा न योग, न सांख्य, न धर्म, न स्वाध्याय, न तप, न त्याग, न इष्टापूर्त, न दक्षिणा, न व्रत, न यज्ञ, न वेद, न तीर्थ और न नियमादि ही कर सकते हैं॥ ४-५॥ हे राजन्! पापी पुरुष तपस्या आदिसे वैसा पवित्र नहीं हो सकता है जैसा कि भगवान् कृष्णमें मन लगाकर उनके भक्तोंकी सेवा करनेसे हो सकता है॥ ६॥ हे रहूगण! महान् पुरुषोंकी चरणरजका सेवन किये बिना इस पदपर न तपसे पहुँचा जा सकता है, न यज्ञसे, न दानसे, न वेदसे और न जल, अग्नि अथवा सूर्यसे ही पहुँचा जा सकता है॥ ७॥ कहिये, सत्सङ्गति पुरुषोंका क्या उपकार नहीं करती? वह बुद्धिकी जड़ताको हरती है, वाणीमें सत्यका सञ्चार करती है, सम्मान बढ़ाती है, पापको दूर करती है, चित्तको आनन्दित करती है और समस्त दिशाओंमें कीर्तिका विस्तार करती है॥ ८॥

* श्रीमद्भा० १।१८।१३; ११।१२।१-२; ६।१।१६; ५।१२।१२।

† भर्तृहरेर्नीतिशतकात्।

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित्किञ्चिद्बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥ ९॥*
तत्त्वं चिन्तय सततं चित्ते
परिहर चिन्तां नश्वरवित्ते।
क्षणमिह सज्जनसङ्गतिरेका
भवति भवार्णवतरणे नौका॥ १०॥
परिचरितव्याः सन्तो यद्यपि
कथयन्ति नो सदुपदेशम्।
यास्तेषां स्वैरकथास्ता
एव भवन्ति शास्त्राणि॥ ११॥
भक्तानां मम योगिनां सुविमलस्वान्तातिशान्तात्मनां
मत्सेवाभिरतात्मनां च विमलज्ञानात्मनां सर्वदा।
सङ्गं यः कुरुते सदोद्यतमतिस्तत्सेवनानन्यधी-
र्मोक्षस्तस्य करे स्थितोऽहमनिशं दृश्यो भवे नान्यथा॥ १२॥†

जब मैं थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्तकर हाथीके समान मदान्ध हो रहा था, उस समय मेरा मन 'मैं ही सर्वज्ञ हूँ' ऐसा सोचकर घमण्डमें चूर था। परन्तु जब विद्वानोंके पास रहकर कुछ-कुछ ज्ञान प्राप्त किया तो 'मैं मूर्ख हूँ' ऐसा समझनेके कारण ज्वरके समान मेरा दर्प दूर हो गया॥ ९॥ चित्तमें निरन्तर तत्त्वचिन्तन करो, नाशवान् धनकी चिन्ता छोड़ दो, सज्जनोंकी एक क्षणकी सङ्गति भी संसारसागरसे तैरनेके लिये नौकारूप हो जाती है॥ १०॥ संत कोई उपदेश न भी करें तब भी उनकी सेवा करनी ही चाहिये, क्योंकि जो उनकी स्वेच्छया बातें होती हैं वे भी शास्त्र ही हैं॥ ११॥ जो तत्परतापूर्वक साधुसेवामें अनन्य बुद्धि रखता हुआ मेरे भक्तोंका, निर्मल और शान्त चित्तवाले योगियोंका, मेरी सेवा-पूजामें अनुराग रखनेवालोंका तथा निर्मल ज्ञानियोंका सदा ही सङ्ग करता है, मोक्ष उसके करतलगत होता है और मैं अहर्निश उसकी दृष्टिका विषय बना रहता हूँ, दूसरे किसी उपायसे मैं दर्शन नहीं दे सकता॥ १२॥

* भर्तृहरेर्नीतिशतकात्।

† अध्या० रा० ३। ४। ५५।

भाग्योदयेन बहुजन्मसमार्जितेन
सत्सङ्गमेव लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार-
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः॥ १३॥*

विवेकसूक्तिः

परस्त्री मातेव क्वचिदपि न लोभः परधने
न मर्यादाभङ्गः क्वचिदपि न नीचेष्वभिरतिः।
रिपौ शौर्यं धैर्यं विपदि विनयः सम्पदि सदा
इदं वच्मो भ्रातर्भरत! नियतं ज्ञास्यसि मुदे॥ १४॥
लब्धा विद्या राजमान्या ततः किं
प्राप्ता सम्पद्वैभवाढ्या ततः किम्।
भुक्ता नारी सुन्दराङ्गी ततः किं
येन स्वात्मा नैव साक्षात्कृतोऽभूत्॥ १५॥
यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।

बहुत जन्मके पुण्य-पुञ्जसे भाग्योदय होनेपर जब पुरुषको सत्सङ्गकी ही प्राप्ति होती है, तभी अज्ञानकृत मोह और मदरूपी अन्धकारका नाश करके विवेकका उदय होता है॥ १३॥

[भगवान् राम कहते हैं—] हे भाई भरत! परस्त्रीको मातृवत् समझना; परधनका कभी लोभ न करना, मर्यादाका कभी भङ्ग न करना, नीचोंकी सङ्गतिमें कभी प्रेम न करना, शत्रुके प्रति शूरता प्रदर्शित करना, विपत्तिमें धैर्य रखना तथा सम्पत्तिमें विनीत होना—ये सब प्रसन्नताके निश्चित हेतु हैं, ऐसा जानो॥ १४॥ जिसने अपने आत्माका साक्षात्कार नहीं किया उसने यदि राजमान्या विद्याका उपार्जन कर लिया तो क्या? विचित्र वैभवयुक्त सम्पत्ति प्राप्त कर ली तो क्या? और सुन्दरी स्त्रीका उपभोग भी कर लिया तो क्या?॥ १५॥ जबतक कि यह शरीररूपी घर स्वस्थ है, वृद्धावस्थाका आक्रमण नहीं हुआ है, इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण नहीं हुई है और आयु भी ढली नहीं है,

---

* पद्मपु० ६। १९०। ७६।

आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥ १६॥*
भज विश्रान्तिं त्यज रे भ्रान्तिं निश्चिनु शैवं निजरूपम्।
हेयादेयातीतं सच्चित्सुखरूपस्त्वं भव शिष्टः॥ १७॥†
कदाहं भो स्वामिन्नियतमनसा त्वां हृदि भज-
न्नभद्रे संसारे ह्यनवरतदुःखेऽतिविरत।
लभेयं तां शान्तिं परममुनिभिर्या ह्यधिगता
दयां कृत्वा मे त्वं वितर परशान्तिं भवहर॥ १८॥‡
कदाहं हे स्वामिञ्जनिमृतिमयं दुःखनिविडं
भवं हित्वा सत्येऽनवरतसुखे स्वात्मवपुषि।
रमे तस्मिन्नित्यं निखिलमुनयो ब्रह्मरसिका
रमन्ते यस्मिंस्ते कृतसकलकृत्या यतिवराः॥ १९॥‡
कदा मे हृत्पद्मे भ्रमर इव पद्मे प्रतिवसन्
सदा ध्यानाभ्यासादनिशमुपहूतो विभुरसौ।
स्फुरज्ज्योतीरूपो रविरिव रमासेव्यचरणो
हरिष्यत्यज्ञानाज्जनिततिमिरं तूर्णमखिलम्॥ २०॥‡

तभीतक विद्वान्‌को अपने शुभके लिये प्रयत्न कर लेना चाहिये, नहीं तो घरमें आग लग जानेपर कुआँ खोदनेका प्रयत्न करनेसे क्या होगा?॥ १६॥ विश्राम ले, भ्रम छोड़, ग्रहण-त्यागसे रहित अपने कल्याणमय स्वरूपका निश्चय कर, तू सच्चिदानन्दस्वरूप है। अरे! तू सत्पुरुष बन॥ १७॥ हे स्वामिन्! स्थिर चित्तसे तुम्हें हृदयमें स्मरण करता हुआ, निरन्तर दुःखमय और अमङ्गलरूप इस संसारसे अत्यन्त विरक्त होकर महामुनियोंद्वारा प्राप्त की हुई परम शान्तिको मैं कब पाऊँगा? हे भवभयनाशक! दया करके आप मुझे वह परम शान्ति दें॥ १८॥ हे स्वामिन्! जन्म-मरणमय दुःखोंसे भरे हुए इस संसारको छोड़कर, जिसमें ब्रह्मामृतके प्रेमी सभी मुनि और कृतकृत्य यतिवर निरत रहते हैं, उस सत्यस्वरूप एकरस आनन्दमय अपने आत्मस्वरूपमें मैं कब नित्य रमण करूँगा॥ १९॥ सूर्यकी तरह देदीप्यमान ज्योतिःस्वरूप, लक्ष्मीसे सेवित चरणोंवाले तथा अनवरत ध्यानाभ्याससे नित्य आवाहन किये हुए वे भगवान् विष्णु मेरे हृदय-कमलमें भ्रमरके समान रहते हुए, अज्ञानसे उत्पन्न सम्पूर्ण हृदयान्धकारका कब शीघ्रतासे नाश करेंगे?॥ २०॥

* भर्तृहरेर्वैराग्यशतकात्। † स्वामिकृष्णानन्दकृतशिष्टस्तोत्रात्। ‡ स्वामिब्रह्मानन्दकृतपरमेश्वरस्तुतिसारात्।

न रम्यं नारम्यं प्रकृतिगुणतो वस्तु किमपि
प्रियत्वं यत्र स्यादितरदपि तद्ग्राहकवशात्।
रथाङ्गाह्वानानां भवति विधुरङ्गारशकटी-
पटीराम्भःकुम्भः स भवति चकोरीनयनयोः॥ २१॥
धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रुजलं पिबन्ति शकुना निःशङ्कमङ्केशयाः।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परिक्षीयते॥ २२॥*
जिह्वे लोचन नासिके श्रवण हे त्वक् चापि नो वार्यसे
सर्वेभ्यस्तु नमस्कृताञ्जलिरहं सप्रश्रयं प्रार्थये।
युष्माकं यदि सम्मतं तदधुना नात्मानमिच्छाम्यहं
होतुं भूमिभुजां निसर्गदहनज्वालाकराले गृहे॥ २३॥†
मातर्माये भगिनि कुमते हे पितर्मोहजाल
व्यावर्तध्वं भवतु भवतामेष दीर्घो वियोगः।
सद्यो लक्ष्मीरमणचरणभ्रष्टगङ्गाप्रवाह-
व्यामिश्रायां दृषदि परमब्रह्मदृष्टिर्भवामि॥ २४॥†

कोई भी वस्तु स्वभावतः अच्छी या बुरी नहीं है; जहाँ वह प्रिय है वहाँ ही उसको ग्रहण करनेवाले अधिकारीके भेदसे वह अप्रिय भी मालूम होती है, चकवोंके लिये चन्द्रमा जलती हुई अँगीठी है और वही चकोरीके लिये शीतल जलसे भरा घड़ा है॥ २१॥ गिरि-कन्दरामें निवास करनेवाले परब्रह्मके ध्यानमें मग्न हुए, धन्य योगीजनोंके आनन्दाश्रुओंको गोदमें बैठे हुए पक्षीगण निःशङ्क होकर पीते हैं, पर हमलोगोंकी आयु तो मनोरथमय महलके सरोवरतटोंपर स्थित विहार-विपिनमें आमोद-प्रमोद करते ही व्यतीत हो जाती है॥ २२॥ हे जिह्वे, नेत्र, नासिके, कर्ण और त्वचाओ! मैं तुम्हें रोकता नहीं हूँ; परन्तु तुम सभीको हाथ जोड़ प्रणाम करके सविनय प्रार्थना करता हूँ, कि यदि तुम्हारी सम्मति हो तो अब मैं राजाओंकी स्वाभाविक अपमानाग्निकी लपटोंसे भयङ्कर घरोंमें अपनी आहुति नहीं देना चाहता॥ २३॥ अरी माँ माया! ओ बहिन कुमति! हे पिता मोह! अब तुम लौट जाओ, भगवान् करें अब हमसे आपलोगोंका सदाके लिये वियोग हो जाय! अब मैं शीघ्र ही रमानाथके चरणकमलोंसे निर्गत श्रीगङ्गाजीके प्रवाहमें पड़ी हुई शिलाके ऊपर (बैठकर) परब्रह्मका ध्यान करनेवाला हूँ॥ २४॥

* भर्तृहरेर्वैराग्यशतकात्। † श्रीशिल्हनमिश्रस्य शान्तिशतकात्।

धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम्।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्॥ २५॥
नन्दन्ति मन्दाः श्रियमप्यनित्यां
परं विषीदन्ति विपद्गृहीताः।
विवेकदृष्ट्या चरतां नराणां
श्रियो न किञ्चिद् विपदो न किञ्चित्॥ २६॥
अधीत्य चतुरो वेदान् व्याकृत्याष्टादश स्मृतीः।
अहो श्रमस्य वैफल्यमात्मापि कलितो न चेत्॥ २७॥
इतो न किञ्चित्परतो न किञ्चिद्
यतो यतो यामि ततो न किञ्चित्।
विचार्य पश्यामि जगन्न किञ्चित्
स्वात्मावबोधादधिकं न किञ्चित्॥ २८॥
पुराणान्ते श्मशानान्ते मैथुनान्ते च या मतिः।
सा मतिः सर्वदा चेत् स्यात् को न मुच्येत बन्धनात्॥ २९॥

निरन्तर धर्मका ही अनुशीलन कर, लौकिक धर्मोंको छोड़, साधु पुरुषोंकी सेवा कर और कामतृष्णाका सर्वथा त्याग कर तथा तुरंत ही अन्य पुरुषोंके गुण-दोषोंका चिन्तन छोड़कर भगवत्सेवा और भगवत्कथाकी माधुरीका पान कर॥ २५॥ मन्दमति पुरुष अनित्य धनादिसे आनन्दित होते हैं और विपत्तिग्रस्त होनेपर अत्यन्त विषाद करते हैं, किन्तु विवेकदृष्टिसे चलनेवाले पुरुषोंके लिये न धनादि ही कुछ हैं और न विपत्ति ही॥ २६॥ चारों वेदोंको पढ़कर और अठारहों स्मृतियोंकी व्याख्या करके भी यदि आत्मज्ञान नहीं हुआ तो सारा परिश्रम व्यर्थ ही है॥ २७॥ न इधर ही कुछ है, न उधर ही, जहाँ-जहाँ जाता हूँ वहीं कुछ भी नहीं है, विचार करके देखता हूँ तो यह जगत् भी कुछ नहीं है, स्वात्माके बोधसे बढ़कर और कुछ भी नहीं है॥ २८॥ पुराणश्रवणके पश्चात्, श्मशानसे लौटनेके बाद और मैथुन करनेके अनन्तर जो बुद्धि रहती है, वह यदि सर्वदा बनी रहे तो कौन बन्धनसे मुक्त न हो जायगा?॥ २९॥

नास्ति कामसमो व्याधिर्नास्ति मोहसमो रिपुः।
नास्ति क्रोधसमो वह्निर्नास्ति ज्ञानात्परं सुखम्॥ ३०॥*
शान्तितुल्यं तपो नास्ति न सन्तोषात्परं सुखम्।
न तृष्णायाः परो व्याधिर्न च धर्मो दयापरः॥ ३१॥*
न च विद्यासमो बन्धुर्न मुक्तेः परमा गतिः।
न वैराग्यात् परं भाग्यं नास्ति त्यागसमं सुखम्॥ ३२॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥ ३३॥†
अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥ ३४॥‡
अस्मिन्महामोहमये कटाहे
सूर्याग्निना रात्रिदिनेन्धनेन।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन
भूतानि कालः पचतीति वार्त्ता॥ ३५॥‡
मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यजेः।
क्षमार्जवदयाशौचं सत्यं पीयूषवत् पिबेः॥ ३६॥$

कामके समान कोई रोग नहीं, मोहके समान कोई शत्रु नहीं, क्रोधके समान कोई आग नहीं और ज्ञानके समान कोई सुख नहीं है॥ ३०॥ शान्तिके समान कोई तप नहीं है, सन्तोषसे बढ़कर कोई सुख नहीं है, तृष्णासे बड़ी कोई व्याधि नहीं है और दयाके समान कोई धर्म नहीं है॥ ३१॥ विद्याके समान कोई बन्धु नहीं है, मुक्तिसे बढ़कर दूसरी गति नहीं है, वैराग्यसे बढ़कर भाग्य और त्यागसे बढ़कर सुख नहीं है॥ ३२॥ कामनाओंकी इच्छा उपभोगसे कभी शान्त नही होती, अपितु घीसे आगके समान वह उपभोगद्वारा और बढ़ती ही जाती है॥ ३३॥ प्रतिदिन जीव यमराजके घर जा रहे हैं, तो भी अन्य लोग यहाँ स्थिर रहना चाहते हैं, इससे बढ़कर क्या आश्चर्य है?॥ ३४॥ कालरूपी रसोइया महामोहरूपी कड़ाहमें मास और ऋतुरूपी करछुलसे उथल-पथल करके रात और दिनरूपी इन्धनसे सूर्यरूपी अग्निद्वारा सभी जीवोंको पका रहा है, यही यथार्थ बात है॥ ३५॥ भाई! यदि तुझे मुक्तिकी इच्छा है तो विषयोंको विषके समान त्याग दे तथा क्षमा, सरलता, दया, पवित्रता और सत्यको अमृतके समान ग्रहण कर॥ ३६॥

* चाणक्यनीतेः। † मनु० २।९४। ‡ महाभारते वनपर्वणः। $अष्टावक्रगीतायाः।

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥ ३७॥*
स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः॥ ३८॥*
न तथास्य भवेत्क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥ ३९॥*

वैराग्यसूक्तिः

दान्तस्य किमरण्येन तथादान्तस्य भारत।
यत्रैव निवसेद्दान्तस्तदरण्यं स चाश्रमः॥ ४०॥†

अनेक जन्मोंके उपरान्त इस परम पुरुषार्थके साधनरूप नर-देहको, जो अनित्य होनेपर भी परम दुर्लभ है, पाकर धीर पुरुषको उचित है कि जबतक वह पुनः मृत्युके चंगुलमें न फँसे, तबतक शीघ्र ही अपने निःश्रेयस (मोक्ष) प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर ले, क्योंकि विषय तो सभी योनियोंमें प्राप्त होते हैं [इनके संग्रह करनेमें इस अमूल्य अवसरको न खोवे]॥ ३७॥ [भगवान् कहते हैं—] विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह स्त्री और स्त्रीसङ्गियोंका सङ्ग दूरसे ही त्यागकर निर्भय और निर्जन एकान्त स्थानमें बैठकर आलस्यरहित होकर मेरा चिन्तन करे॥ ३८॥ किसी अन्यके सङ्गसे इस (मुमुक्षु) पुरुषको ऐसा क्लेश और बन्धन नहीं होता, जैसा कि स्त्री अथवा उसके सङ्गियोंके सङ्गसे होता है॥ ३९॥

जो संयमी है उसे वनकी क्या आवश्यकता? और जो असंयमी है उसे वनमें जानेसे लाभ क्या? संयमी जहाँ भी रहे उसके लिये वही वन है और वही आश्रम है॥ ४०॥

---

* श्रीमद्भा० ११। ९। २९; ११। १४। २९-३०।

† महाभारते।

गृहे पर्यन्तस्थे द्रविणकणमोषं श्रुतवता
स्ववेश्मन्यारक्षा क्रियत इति मार्गोऽयमुचितः।
नरान्गेहाद्गेहात् प्रतिदिवसमाकृष्य नयतः
कृतान्तात् किं शङ्का न हि भवति रे जागृत जनाः॥ ४१ ॥*

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्॥ ४२ ॥

हस्तौ दानविवर्जितौ श्रुतिपुटौ सारस्वतद्रोहिणौ
नेत्रे साधुविलोकनेन रहिते पादौ न तीर्थं गतौ।
अन्यायार्जितवित्तपूर्णमुदरं गर्वेण तुङ्गं शिरो
रे रे जम्बुक मुञ्च मुञ्च सहसा नीचं सुनिन्द्यं वपुः॥ ४३ ॥†

सेवध्वं विबुधास्तमन्धकरिपुं मा क्लिश्यतान्यश्रुते
यस्मादत्र परत्र च त्रिजगति त्राता स एकः शिवः।

पड़ोसके घरमें चोरी होनेकी बात सुनकर अपने घरका प्रबन्ध किया जाता है, यह उचित ही है किन्तु घर-घरसे प्रतिदिन मनुष्योंको पकड़कर ले जाते हुए कालसे क्या कुछ भी भय नहीं होता? अतएव हे मनुष्यो? अब भी सावधान हो जाओ॥ ४१ ॥ रागीको वनमें भी दोषोंकी जागृति हो जाती है और घरमें रहकर भी पाँचों इन्द्रियोंका संयम किया जाय तो वह तप ही है। जो निर्दोष कर्ममें प्रवृत्त होता है उस विरक्त पुरुषके लिये घर भी तपोवन ही है॥ ४२ ॥ [एक मृत मानव-शरीरको खानेके लिये उद्यत हुए किसी गीदड़को आकाशवाणीने सावधान किया] अरे गीदड़! इस अति निन्दनीय नीच शरीरको शीघ्र ही त्याग दे [क्योंकि] इसके हाथ दानविवर्जित हैं, कर्ण शास्त्रद्रोही हैं, नेत्र साधुजनोंके दर्शनोंसे रहित हैं, चरणोंने कभी तीर्थ-गमन नहीं किया, उदर अन्यायार्जित धनसे ही पाला गया है और यह सिर सदा ही गर्वसे ऊँचे उठा रहता था। ४३ ॥ हे विद्वानो! महादेवजीकी ही सेवा करो, अन्य शास्त्रोंमें क्लेश न उठाओ, क्योंकि यहाँ-वहाँ और तीनों लोकोंमें एकमात्र वे ही रक्षक हैं।

---

* शिल्हनमिश्रस्य शान्तिशतकात्।

† श्रीचाणक्यस्य।

आयाते नियतेर्वशात् सुविषमे कालात् करालाद्भये
कुत्र व्याकरणं क्व तर्ककलहः काव्यश्रमः क्वापि वा॥ ४४॥*
भेको धावति तं च धावति फणी सर्पं शिखी धावति
व्याघ्रो धावति केकिनं विधिवशाद् व्याधोऽपि तं धावति।
स्वस्वाहारविहारसाधनविधौ सर्वे जना व्याकुलाः
कालस्तिष्ठति पृष्ठतः कचधरः केनापि नो दृश्यते॥ ४५॥
स्वःसिन्धुतीरेऽघविघातवीरे
वहत्समीरे करलभ्यनीरे।
वसन्कुटीरे परिधाय चीरे
करोम्यधीरे न रुचिं शरीरे॥ ४६॥
यस्या बीजमहङ्कृतिर्गुरुतरं मूलं ममेतिग्रहो
भोगस्य स्मृतिरङ्कुरः सुतसुताज्ञात्यादयः पल्लवाः।
स्कन्धो दारपरिग्रहः परिभवः पुष्पं फलं दुर्गतिः
सा मे ब्रह्मविभावनापरशुना तृष्णालता लूयताम्॥ ४७॥
निःस्वो वष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपो
लक्षेशः क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रेशतां वाञ्छति।

[विचार करो कि] दैवात् विकराल कालसे विषम भय उपस्थित होनेपर कहाँ व्याकरण, कहाँ तर्कशास्त्रका विवाद और कहाँ काव्यरचनामें परिश्रम करनेका अवसर है?॥ ४४॥ मेढक दौड़ता है, उसके पीछे सर्प दौड़ता है, सर्पके पीछे मयूर, मयूरके पीछे सिंह और दैवात् सिंहके पीछे व्याध (शिकारी) दौड़ रहा है। इस प्रकार अपने भोजन और विहारकी सामग्रियोंके पीछे सभी व्याकुल हो रहे हैं; पर, पीछे जो चोटी पकड़े हुए काल खड़ा है उसे कोई नहीं देखता॥ ४५॥ जहाँ शीतल वायु बह रही है, अञ्जलिसे ही जल पीनेको मिल जाता है, ऐसे पाप नाश करनेमें वीर गङ्गातीरपर, वस्त्रोंके दो टुकड़े पहिन कुटियामें निवास करता हुआ मैं इस क्षणभङ्गुर शरीरसे प्रेम नहीं करूँगा॥ ४६॥ जिसका बीज अहङ्कार है, 'यह मेरा है' इस प्रकारका आग्रह ही गुरुतर मूल है, अङ्कुर विषय-चिन्तन है, पुत्र, पुत्री, जाति आदि पत्ते हैं, स्त्री संग्रह स्कन्ध हैं, अनादर पुष्प है और फल दुर्गति है, वह मेरी तृष्णारूपिणी लता ब्रह्मविभावनारूपी परशुसे छिन्न हो॥ ४७॥ जिसके पास कुछ नहीं है वह सौ रुपये चाहता है, सौ रुपयेवाला सहस्र, सहस्रवाला लक्ष, लक्षपति पृथ्वीका आधिपत्य, पृथ्वीपति

---

* राजानकलौलकस्य।

चक्रेशः सुरराजतां सुरपतिर्ब्रह्मास्पदं वाञ्छति
ब्रह्मा शैवपदं शिवो हरिपदं ह्याशावधिं को गतः॥ ४८॥*

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥ ४९॥*

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याता-
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥ ५०॥†

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयावहं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥ ५१॥†

चक्रवर्ती होना, चक्रवर्ती इन्द्रपद, इन्द्र ब्रह्मपद, ब्रह्मा शिवपद और शिव विष्णुपदकी इच्छा करते हैं। फिर बताओ, आशाकी सीमाको किसने पार किया है?॥ ४८॥ [कमलवनमें मकरन्दका आस्वादन करनेवाला एक भ्रमर जब कमल बंद होने लगा तो उसमें बंद हो गया, तब वह मनसूबे गाँठने लगा—] रात बीतेगी, सुन्दर प्रभात होगा, सूर्य उदित होंगे और कमलकी कलियाँ विकसित होंगी [तब मैं भी स्वच्छन्द विचरूँगा] इस प्रकार जब वह कमल-कोशमें बैठा विचार कर रहा था, खेद है कि इतनेहीमें हाथीने कमलको उखाड़ फेंका॥ ४९॥ हमने भोगोंको नहीं भोगा, भोगने ही हमें भोग लिया, हमने तप नहीं किया, स्वयं ही तप्त हो गये, काल व्यतीत नहीं हुआ; हम ही व्यतीत हो गये और मेरी तृष्णा नहीं जीर्ण हुई, हम ही जीर्ण हो गये॥ ५०॥ भोगोंमें रोगका भय है। ऊँचे कुलमें पतनका भय है, धनमें राजाका, मौनमें दीनताका, बलमें शत्रुका तथा रूपमें वृद्धावस्थाका भय और शास्त्रमें वाद-विवादका, गुणमें दुष्ट जनका तथा शरीरमें कालका भय है, इस प्रकार संसारमें मनुष्योंके लिये सभी वस्तुएँ भयपूर्ण हैं, भयसे रहित तो केवल वैराग्य ही है॥ ५१॥

---

* काव्यसंग्रहात्।

† भर्तृहरेर्वैराग्यशतकात्।

कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलो
व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैरावृततनुः।
क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरजकपालार्पितगलः
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः॥५२॥*

गङ्गातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः
सम्प्राप्स्यन्ते जरठहरिणाः शृङ्गकण्डूविनोदम्॥५३॥*

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्त्तसुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः॥५४॥*

कृच्छ्रेणामेध्यमध्ये नियमिततनुभिः स्थीयते गर्भमध्ये
कान्ताविश्लेषदुःखव्यतिकरविषये यौवने विप्रयोगः।

जो दुर्बल है, काना है, लँगड़ा है, कनकटा है, पूँछसे हीन है, जिसका सारा अङ्ग घावोंसे भरा और पीबसे भीगा हुआ है, सैकड़ों कीड़ोंसे जिसका शरीर परिपूर्ण है, जो भूखसे व्याकुल और जराग्रस्त है तथा जिसके गलेमें मिट्टीके घड़ेका कण्ठ फँसा हुआ है ऐसा कुत्ता भी कुत्तीके पीछे दौड़ रहा है। ओह! यह कामदेव मरे हुएको मारता ही है॥५२॥ क्या मेरे ऐसे शुभ दिन आयेंगे, जब श्रीगङ्गाजीके तटपर हिमालयकी शिलाके ऊपर पद्मासन लगाये हुए, ब्रह्मचिन्तनका अभ्यास करते-करते योगनिद्रा-(समाधि) के प्राप्त होनेपर वृद्ध मृग निःशङ्क होकर मेरे शरीरसे अपने सींग खुजलानेका आनन्द लेंगे॥५३॥ आशा नामकी एक बड़ी भारी नदी है, जिसमें मनोरथरूपी जल है, तृष्णारूपी तरङ्ग हैं, रागरूपी ग्राह हैं, संकल्प-विकल्परूपी पक्षी हैं और जो धैर्यरूपी तटके वृक्षको उखाड़ देनेवाली है तथा जिसकी अति गम्भीर और दुस्तर मोहरूपी भँवरें हैं तथा जिसके चिन्तारूपी ऊँचे-ऊँचे करारें हैं, उसके उस पार गये हुए विशुद्धचित्त योगीश्वर ही आनन्दित होते हैं॥५४॥ गर्भमें अति दुर्गन्धिपूर्ण स्थानमें बड़ी कठिनतासे शरीर सिकोड़कर ठहरा जाता है, स्त्रीके वियोगजन्य क्लेशसे मिश्रित जिसके विषय हैं उस युवावस्थामें भारी वियोगका कष्ट उठाना पड़ता है

* भर्तृहरेर्वैराग्यशतकात्।

नारीणामप्यवज्ञा विलसति नियतं वृद्धभावोऽप्यसाधुः
संसारे रे मनुष्या वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित्॥ ५५॥*
गात्रं सङ्कुचितं गतिर्विगलिता भ्रष्टा च दन्तावलि-
र्दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता वक्त्रं च लालायते।
वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनो भार्या न शुश्रूषते
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते॥ ५६॥*
उत्खातं निधिशङ्कया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवो
निस्तीर्णः सरितां पतिर्नृपतयो यत्नेन सन्तोषिताः।
मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः
प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णे सकामा भव॥ ५७॥*
आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्॥ ५८॥*

तथा जिसमें स्त्रियाँ भी अवज्ञा करें, वह वृद्धावस्था भी अति दुःखमयी है। अरे मनुष्यो! यदि संसारमें थोड़ा भी कोई सुख हो तो बताओ॥ ५५॥ शरीर शिथिल हो जाता है, चला जाता नहीं, दाँत गिर जाते हैं, आँखोंसे सूझता नहीं, बहिरापन बढ़ने लगता है, मुखसे लार टपकने लगती है, बान्धवलोग बातका आदर नहीं करते, स्त्री सेवा नहीं करती और पुत्र भी शत्रुता करने लगते हैं, हाय! बूढ़े मनुष्यको बड़ा ही कष्ट होता है॥ ५६॥ धन-प्राप्तिकी आशङ्कासे मैंने पृथ्वी खोद डाली, पर्वतके धातुओंको फूँका, समुद्रको पार किया, नाना उपायोंसे राजाओंको सन्तुष्ट किया और मन्त्राराधनमें तत्पर रहते हुए श्मशानमें रात्रियाँ बितायीं, किन्तु अभीतक एक कानी कौड़ी भी नहीं मिली, अरी तृष्णे! अब तो तू सफल हो॥ ५७॥ सूर्यके उदय और अस्तसे जीवन क्षीण हो रहा है, विविध कार्योंके भारसे गुरुतर प्रतीत होनेवाले नाना प्रकारके व्यापारोंसे समय जाता मालूम ही नहीं पड़ता; जन्म, जरा और मरणकी विपत्तिको देखकर भी चित्तमें भय नहीं होता। संसार मोहमयी प्रमादरूपी मदिरा पीकर उन्मत्त हो गया है॥ ५८॥

---

* भर्तृहरेर्वैराग्यशतकात्।

अजानन्दाहात्म्यं पतति शलभो दीपदहने
स मीनोऽप्यज्ञानाद्वडिशयुतमश्नाति पिशितम्।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिला-
न्न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा॥ ५९॥*

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री-
रर्थाः सङ्कल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूराः।
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम्॥ ६०॥*

जीर्णा एव मनोरथाः स्वहृदये यातं जरा यौवनं
हन्ताङ्गेषु गुणाश्च वन्ध्यफलतां याता गुणज्ञैर्विना।
किं युक्तं सहसाभ्युपैति बलवान्कालः कृतान्तोऽक्षमी
ह्याज्ञातं स्मरशासनाङ्घ्रियुगलं मुक्त्वास्ति नान्या गतिः॥ ६१॥*

नायं ते समयो रहस्यमधुना निद्राति नाथो यदि
स्थित्वा द्रक्ष्यति कुप्यति प्रभुरिति द्वारेषु येषां वचः।

पतङ्ग दीपकके दाहक स्वरूपको न जाननेके कारण ही उसपर गिरता है, मत्स्य भी अज्ञानवश ही मांसखण्डको निगलता है, किन्तु हम कामनाओंको विपत्समूहसे संकीर्ण जानकर भी उन्हें नहीं त्यागते, अहो! मोहकी महिमा भी बड़ी ही प्रबल है॥ ५९॥ आयु तरङ्गकी तरह चञ्चल है, यौवनकी शोभा भी कुछ ही दिन ठहरनेवाली है, धन केवल सङ्कल्पमात्र है, भोगसामग्री वर्षाकी बिजलीकी तरह चमकती है, प्रियतमाओंका प्रेमालिङ्गन भी चिरस्थायी नहीं, इसलिये संसार-सागरको पार करनेके लिये ब्रह्ममें ही चित्तको लीन करो॥ ६०॥ सभी मनोरथ मनमें ही जीर्ण हो गये, यौवन बुढ़ापेमें परिणत हो गया, खेद है कि गुणग्राहकोंके बिना गुण भी शरीरके अंदर ही निष्फल हो गये, क्षमा न करनेवाला बलवान् कालरूपी यम सहसा आ रहा है, अब क्या करना चाहिये? हाँ, अब समझनेमें आया, शिवजीके चरणोंको छोड़कर अन्य गति नहीं है॥ ६१॥ अभी तेरी मुलाकातका समय नहीं है, इस समय गुप्त विचार हो रहा है और स्वामी अभी सो रहे हैं, यदि उठकर तुम्हें (खड़ा) देख लेंगे तो मालिक नाराज होंगे, इस प्रकार जिनके दरवाजेपर द्वारपाल कहा करते हैं,

---

* भर्तृहरेर्वैराग्यशतकात्।

चेतस्तानपहाय याहि भवनं देवस्य विश्वेशितु-
निर्दौवारिकनिर्दयोक्त्यपरुषं निस्सीमशर्मप्रदम्॥ ६२॥*

रे कन्दर्प करं कदर्थयसि किं कोदण्डटङ्कारितै
रे रे कोकिल कोमलैः कलरवैः किं त्वं वृथा जल्पसि।
बाले स्निग्धविदग्धमुग्धमधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलं
चेतश्चुम्बितचन्द्रचूडचरणध्यानामृतं वर्त्तते॥ ६३॥*

अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
क्वचित्पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः॥ ६४॥*

मातुलो यस्य गोविन्दः पिता यस्य धनञ्जयः।
सोऽपि कालवशं प्राप्तः कालो हि दुरतिक्रमः॥ ६५॥†

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यजस्व
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः॥ ६६॥‡

अरे चित्त! इनको त्यागकर उस विश्वेश देवके घर चल जहाँ न कोई द्वारपाल है और न निर्दय कठोर वचन सुनने पड़ते हैं और जो असीम सुख-शान्ति देनेवाला है॥ ६२॥ अरे काम! अपने धनुषकी टङ्कारोंसे हाथोंको क्यों थकाता है? अरी कोयल! तू अपने कोमल कलरवोंसे वृथा क्यों बक-बक कर रही है? ओ बाले! तुम्हारे इन अतिस्निग्ध, चातुर्यपूर्ण, भोले-भाले, मधुर और चञ्चल कटाक्षोंसे भी अब कुछ नहीं हो सकता। अब तो मेरा चित चन्द्रशेखर श्रीशंकरके चरणसरोरुहके ध्यानरूप अमृतका आस्वादन कर चुका है॥ ६३॥ सर्प और पुष्पहारमें, बलवान् शत्रु और सुहृद्में, मणि या मिट्टीके ढेलेमें, पुष्पशय्या और शिलामें तथा तृण और तरुणीमें समदृष्टि रखते हुए किसी पुनीत काननमें 'शिव! शिव! शिव!' ऐसा जपते हुए मेरे दिन व्यतीत हों॥ ६४॥ जिसके भगवान् कृष्ण तो मामा और अर्जुन पिता हैं, वह अभिमन्यु भी मृत्युको प्राप्त हुआ, सच है, कोई भी कालको लाँघ नहीं सकता॥ ६५॥ इस अस्थि, मांस और रुधिरके पुञ्ज अपवित्र शरीरका अभिमान छोड़, स्त्री-पुत्रादिकी भी ममता त्याग, इस जगत्को अहर्निश क्षणभङ्गुर देख और वैराग्यरसका रसिक होकर भक्तिनिष्ठ बन॥ ६६॥

---

* भर्तृहरेर्वैराग्यशतकात्। † व्यासस्य।
‡ पद्म० खं० ९। १९२। ७८।

आनन्दमूलगुणपल्लवतत्त्वशाखा-
वेदान्तमोक्षफलपुष्परसादिकीर्णम्।
चेतोविहङ्ग हरितुङ्गतरुं विहाय
संसारशुष्कविटपे वद किं करोषि॥ ६७॥

तरन्ति मातङ्गघटातरङ्गं
रणाम्बुधिं ये मयि ते न शूराः।
शूरास्त एवेह मनस्तरङ्गं
देहेन्द्रियाम्भोधिमिमं तरन्ति॥ ६८॥*

इमान्यमूनीति विभावितानि
कार्याण्यपर्यन्तमनोरमाणि।
जनस्य जायाजनरञ्जनेन
जवाज्जरान्तं जरयन्ति चेतः॥ ६९॥*

विद्राविते शत्रुजने समास्ते
समागतायामभितश्च लक्ष्म्याम्।
सेव्यन्त एतानि सुखानि याव-
त्तावत्समायाति कुतोऽपि मृत्युः॥ ७०॥*

जिनकी आनन्द ही जड़ है, तीनों गुण पत्ते हैं, चौबीस तत्त्व शाखाएँ हैं, वेदान्त ही पुष्प हैं और मोक्षरूपी फल हैं। अरे मनपक्षी! उस हरिरूपी विशाल एवं सरस वृक्षको छोड़कर इस संसाररूपी सूखे पेड़पर क्या कर रहा है?॥ ६७॥ हाथियोंकी घटा-(समूह-) रूपी तरङ्गोंवाले युद्ध-सागरको जो पार कर जाते हैं वे मेरे जाननेमें शूर नहीं हैं, शूर तो वे ही हैं जो मनरूपी तरङ्गोंसे युक्त इस देहेन्द्रियादिरूप समुद्रको पार करते हैं॥ ६८॥ ये और वे इस प्रकार सोचे हुए परिणाममें अहितकर कार्य, स्त्रियोंमें राग उत्पन्न करते हुए, मनुष्यके चित्तको शीघ्र ही जराजीर्ण कर देते हैं॥ ६९॥ शत्रुओंको पराजित करके और सर्वतोमुखी लक्ष्मीको प्राप्त करके, जबतक इन सब सुखोंके भोगनेका समय आता है, अहो! तबतक मृत्यु अचानक कहींसे आ पहुँचती है॥ ७०॥

* योगवासिष्ठमहारामायणे।

पुनः पुनर्दैववशादुपेत्य
स्वदेहभारेण कृतोपकारः।
विलूयते यत्र तरुः कुठारै-
राश्वासने तत्र हि कः प्रसङ्गः॥ ७१ ॥*

वपुः कुब्जीभूतं गतिरपि तथा यष्टिशरणा
विशीर्णा दन्तालिः श्रवणविकलं श्रोतयुगलम्।
शिरः शुक्लं चक्षुस्तिमिरपटलैरावृतमहो
मनो मे निर्लज्जं तदपि विषयेभ्यः स्पृहयति॥ ७२ ॥

क्वचिद्विद्वद्गोष्ठी क्वचिदपि सुरामत्तकलहः
क्वचिद्वीणावादः क्वचिदपि च हा हेति रुदितम्।
क्वचिद्रम्या रामा क्वचिदपि जराजर्जरतनु-
र्न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः॥ ७३ ॥

जिस संसारमें दैववश प्राप्त अपने शरीर और फल-पुष्पादि अवयवोंसे बारंबार उपकार करनेवाला वृक्ष भी कुठारोंसे काटा जाता है, ऐसे कृतघ्न संसारसे उपकारकी क्या आशा है?॥ ७१ ॥ शरीर कुबड़ा हो गया, चलते समय छड़ी टेकनी पड़ती है, दाँत टूट गये, दोनों कान भी बहरे हो गये, शिर श्वेत हो गया, नेत्र अन्धकारसमूहसे आवृत हो गये, फिर भी मेरा निर्लज्ज मन विषयोंकी इच्छा करता है ॥ ७२ ॥ इस संसारमें कहीं विद्वानोंकी सभा है तो कहीं मदिरा पीनेवालोंका कोलाहल हो रहा है, कहीं वीणाका मधुर स्वर है, तो कहीं रोनेका हाहाकार हो रहा है, कहीं सुन्दर स्त्रियाँ हैं, तो कहीं जराजर्जरित शरीर देखनेमें आते हैं, नहीं जान पड़ता यह संसार अमृतमय है या विषमय?॥ ७३ ॥

* योगवासिष्ठमहारामायणे।

नवमोल्लास

भक्तिसूक्तिः

तत्र नवधा भक्तिः

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ १ ॥*

उदाहरणानि

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासकिः कीर्तने
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत्कृष्णाप्तिरेषां परम्॥ २ ॥

श्रवणम्

निशम्य कर्माणि गुणानतुल्या-
न्वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं
प्रोत्कण्ठमुद्गायति रौति नृत्यति॥ ३ ॥*

विष्णुभगवान‍्के गुणोंका श्रवण और कीर्तन, भगवान‍्का स्मरण, पादसेवन, पूजन, वन्दन, दास्य, सख्य और उन्हें आत्मसमर्पण—यही नवधा भक्ति है॥ १ ॥ भगवद्गुणश्रवणमें परीक्षित् विशिष्ट हुए, कीर्तनमें शुकदेवजी, स्मरणमें प्रह्लादजी, पादसेवनमें श्रीलक्ष्मीजी, पूजनमें महाराज पृथु, वन्दनमें अक्रूरजी, दास्यमें श्रीहनुमान‍्जी, सख्यमें अर्जुन और सर्वस्व आत्मसमर्पणमें राजा बलि विशिष्ट हुए। भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्ति ही इन सभीका परम लक्ष्य था॥ २ ॥ आपके अनुपम गुण और कर्मोंको तथा आपके लीलामय विग्रहके द्वारा किये हुए विचित्र चरित्रोंको सुनकर जब भक्त अत्यन्त हर्षसे पुलकित हो आँखोंमें आँसू भर गद्गद एवं उच्च स्वरसे गाता, रोता और नाचने लगता है (तो वही आपकी भक्तिकी अवस्था है)॥ ३ ॥

---

* श्रीमद्भा० ७। ५। २३; ७। ७। ३४।

श्रृण्वन्सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
जंन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥ ४ ॥*

तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे ॥ ५ ॥*

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥ ६ ॥*

कीर्तनम्

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥ ७ ॥†

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥ ८ ॥‡

गीत्वा च मम नामानि विचरेन्मम सन्निधौ।
इति ब्रवीमि ते सत्यं क्रीतोऽहं तस्य चार्जुन ॥ ९ ॥‡

श्रीभगवान् चक्रपाणिके जो लोकमें मङ्गलमय जन्म और कर्म होते हैं, तथा उनके जो दिव्य नाम कहे गये हैं, उन्हें सुनकर, निःसंकोच भावसे गाता हुआ असङ्ग होकर विचरण करे ॥ ४ ॥ क्या वृक्ष नहीं जीते हैं, धौंकनी क्या श्वास नहीं लेती और अन्यान्य ग्राम्यपशु (शूकर-कूकर आदि) क्या भोजन और मल-मूत्र नहीं करते हैं ॥ ५ ॥ अरे! जिसके कर्णकुहरोंमें कभी भगवान् कृष्णचन्द्रके नामने प्रवेश नहीं किया, वह मनुष्य तो कुत्ता, बिल्ली, शूकर, ऊँट और गधोंसे व्यर्थ ही श्रेष्ठ बतलाया गया नरपशु ही है ॥ ६ ॥ मेरा जीवन तो बस एक केवल हरिनाम ही है, इसके अतिरिक्त कलियुगमें और कोई गति है ही नहीं ॥ ७ ॥ हे नारद! मैं न तो वैकुण्ठमें रहता हूँ और न योगियोंके हृदयमें ही रहता हूँ, मैं तो वहीं रहता हूँ, जहाँ प्रेमाकुल होकर मेरे भक्त मेरे नामका कीर्तन किया करते हैं ॥ ८ ॥ जो मेरा नाम-संकीर्तन करता हुआ मेरी सन्निधिमें रहता है, हे अर्जुन! मैं तुझसे सच कहता हूँ, मैं उसके हाथ बिका रहता हूँ ॥ ९ ॥

---

* श्रीमद्भा० ११ । २ । ३९; २ । ३ । १८-१९ ।

† पाण्डवगीतायाम् ५४ । ‡ आदिपुराणे ।

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥ १०॥*
कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥ ११॥*
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते॥ १२॥*
न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हंससेवितं यत्राच्युतस्तत्र हि साधवोऽमलाः॥ १३॥*
स वाग्विसर्गो जनताघसम्प्लवो
यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि य-
च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥ १४॥*
तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥ १५॥†

हे राजन्! यह कलियुग यद्यपि सब प्रकार दोषमय है, फिर भी इसमें यह एक महान् गुण है कि केवल कृष्णके कीर्तन करनेसे ही मनुष्य निःसङ्ग होकर परमपदपर पहुँच जाता है॥ १०॥ सत्ययुगमें जो फल श्रीविष्णुभगवान्‌के ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञादिसे और द्वापरमें हरिसेवासे प्राप्त होता है, कलियुगमें वह केवल हरि-नाम-संकीर्तन करनेसे ही मिल जाता है॥ ११॥ पुण्यकीर्ति भगवान्‌के सुयशका जो गान किया जाता है, वही मनोहर, अति सुन्दर, नित्य नूतन, निरन्तर मनको प्रफुल्लित करनेवाला तथा मनुष्योंके शोकरूपी समुद्रका शोषण करनेवाला होता है॥ १२॥ जिस वाणीके द्वारा संसारको पवित्र करनेवाला हरिगुण कभी नहीं गाया जाय, उसमें चाहे विचित्र वर्णविन्यास भी हो तो भी काकतीर्थ (भयानक श्मशान) के तुल्य ही है, राजहंससेवित मानसरोवरसदृश नहीं, क्योंकि निर्मल साधुजन तो वहीं रहते हैं, जहाँ भगवान् अच्युत विराजते हैं॥ १३॥ परन्तु वह वाणी, जिसके प्रत्येक श्लोककी रचना शिथिल ही क्यों न हो, मनुष्योंके पापोंको ध्वंस करनेवाली होती है, यदि उसमें भगवान् अनन्तके नाम यशसहित अङ्कित हों; क्योंकि साधुजन तो उन्हींको सुनते, गाते और बोलते हैं॥ १४॥ तिनकेसे भी नीचा होकर, वृक्षसे भी सहनशील होकर दूसरोंका मान करते हुए और स्वयं मानरहित होकर सदा हरिका नामसंकीर्तन करे॥ १५॥

* श्रीमद्भा० १२। ३। ५१-५२; १२। १२। ४९—५१।

† महाप्रभोचैतन्यदेवस्य।

कमलनयन वासुदेव विष्णो
धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे।
भव शरणमितीरयन्ति ये वै
त्यज भट दूरतरेण तानपापान्॥ १६॥*

स्मरणम् (ध्यानं च)

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा-
नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः
स प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः॥ १७॥*
ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम्।
स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नाम कलौ युगे॥ १८॥
कृष्णे रताः कृष्णमनुस्मरन्ति
रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये।
तेऽभिन्नदेहाः प्रविशन्ति कृष्णे
हविर्यथा मन्त्रहुतं हुताशे॥ १९॥†

[यमराज कहते हैं—] हे दूतो! जो लोग, हे कमलनयन! हे वासुदेव! हे विष्णो! हे धरणिधर! हे अच्युत! हे शङ्खचक्रपाणे! हमारी रक्षा करो, ऐसा उच्चारण करते हैं, उन निष्पाप पुरुषोंको दूरसे ही छोड़ देना॥ १६॥ महान् पराक्रमवाले भगवान् श्रीविष्णुके चरणोंकी अङ्गुलिके नखरूप मणियोंकी चन्द्रिकासे तापरहित हुए हृदयमें चन्द्रोदयके समय सूर्यसन्तापके समान दुःख कैसे ठहर सकता है?॥ १७॥ हे राजन्! कलियुगमें वे ही भाग्यवान् और कृतार्थ हैं, जो श्रीहरिका नामस्मरण करते और कराते हैं॥ १८॥ जो कृष्णमें अनुरक्त हुए कृष्णहीका स्मरण करते हैं और रातमें [सोकर] तथा उठनेपर भी कृष्णहीका स्मरण करते हैं, वे शरीर छूटनेपर इस प्रकार श्रीकृष्णमें सायुज्य प्राप्त करते हैं, जिस प्रकार मन्त्रपूर्वक हवन की गयी हवि अग्निमें तद्रूप हो जाती है॥ १९॥

* श्रीमद्भा० ११।२।५४।
† ब्रह्मपुराणे ६८।५।

ये मानवा विगतरागपरावरज्ञा
नारायणं सुरगुरुं सततं स्मरन्ति।
ध्यानेन तेन हतकिल्बिषचेतनास्ते
मातुः पयोधररसं न पुनः पिबन्ति॥ २०॥*

पादसेवनम्

सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्
स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः॥ २१॥†

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद्वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः॥ २२॥†

तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे सन्तप्यमानस्य भवाध्वनीश।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रिद्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात्॥ २३॥†

जो मनुष्य वीतराग एवं पर-अपरके ज्ञाता होकर सुरगुरु भगवान् नारायणका सर्वदा स्मरण करते हैं, वे उस ध्यानके द्वारा पापोंसे छूटकर पुनः माताके स्तनोंका दूध नहीं पीते [अर्थात् वे जन्म-मरणसे रहित हो मुक्त हो जाते हैं]॥ २०॥ जिन्होंने एक बार भी श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-कमलोंमें, उनके गुणोंमें अनुराग रखनेवाला अपना मन लगा दिया है, वे निष्पाप हो जानेसे फिर यमराज अथवा पाश लिये हुए यमदूतोंको स्वप्नमें भी नहीं देखते॥ २१॥ [गोपियोंने कहा—] जिनकी कृपाकटाक्ष अपने ऊपर होनेके लिये अन्य देवता प्रयत्न करते रहते हैं, वे श्रीलक्ष्मीजी आपके हृदयधाममें स्थान पाकर भी तुलसीजीके साथ आपके भक्तोंद्वारा सेवित जिस चरणरजको चाहती हैं उसी चरणरेणुकी शरणमें आज लक्ष्मीजीकी ही भाँति हम भी आयी हैं॥ २२॥ हे प्रभो! इस घोर संसार-मार्गमें तापत्रयसे आहत एवं सन्तप्त हुए अपने लिये मैं आपके चरणयुगलकी सुधावर्षिणी छत्रछायाके अतिरिक्त और कोई आश्रय नहीं देखता हूँ॥ २३॥

---

* पाण्डवगीतायाम् ३।

† श्रीमद्भा० ६।१।१९; १०।२९।३७; ११।१९।९।

अर्चनम्

नरके पच्यमानस्य यमेन परिभाषितः।
किं त्वया नार्चितो देवः केशवः क्लेशनाशनः॥ २४॥*
एष निष्कण्टकः पन्था यत्र सम्पूज्यते हरिः।
कुपथं तं विजानीयाद् गोविन्दरहितागमम्॥ २५॥†

वन्दनम्

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥ २६॥‡
एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥ २७॥$

सर्वस्वनिवेदनम्

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।

नरकयातना भोगते हुओंसे यमने कहा कि 'तुमने क्लेशहारी केशवभगवान्‌का पूजन क्यों न किया?'॥ २४॥ निर्विघ्न मार्ग यही है जिसमें भगवान्‌की पूजा की जाती है और भगवन्नामरहित शास्त्रोंको कुपथ ही समझना चाहिये॥ २५॥ आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, जीव-जन्तु, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र तथा और भी जो कुछ भूतजात हैं; वे सब हरिका ही तो शरीर हैं, अतः सभीको अनन्यभावसे प्रणाम करे॥ २६॥ भगवान् श्रीकृष्णको किया हुआ एक प्रणाम भी दस अश्वमेधाभिषेकके समान है, उनमें भी दस अश्वमेध करनेवाला तो फिर जन्म लेता है, किन्तु श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवाला फिर जन्म नहीं लेता॥ २७॥ शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियसे, बुद्धिसे, आत्मासे अथवा स्वभावसे

* नृसिंहपुराणे ८। २१। † महाभारते।
‡ श्रीमद्भागवते ११। २। ४१। $ महाभारते शान्तिपर्वणि ४७। ९१।

करोति यद् यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥ २८॥*

भक्तिसामान्यम्

शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्
नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो-
राविष्टचेता न भवाय कल्पते॥ २९॥*
विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥ ३०॥*
वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥ ३१॥*
श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।

जो भी मनुष्य करे वह सब परमपुरुष नारायणको समर्पण कर दे॥ २८॥ आपके मङ्गलमय नाम और रूपको सुनता, कहता, स्मरण करता और चिन्तन करता हुआ जो आपके चरणोंमें दत्तचित्त होकर क्रियामें प्रवृत्त रहता है वह फिर संसारमें जन्म नहीं लेता॥ २९॥ [कुन्तीने कहा—] हे जगद्गुरो! यत्र-तत्र सभी स्थानोंमें हमपर विपत्तियाँ आती ही रहें, जिससे उस समय पूर्वजन्मका नाश करनेवाला आपका दर्शन मिला करे॥ ३०॥ वाणी आपके गुणानुवादमें, श्रवण आपके कथाश्रवणमें, हाथ आपकी सेवामें, मन चरणकमलोंके स्मरणमें, सिर आपके निवासभूत सारे जगत्के प्रणाम करनेमें तथा नेत्र आपके चैतन्यविग्रह संतजनोंके दर्शनमें लगे रहें॥ ३१॥ हे विभो! आपकी कल्याणदायिनी भक्तिको छोड़कर जो लोग केवल बोधके लिये ही कष्ट उठाते हैं,

* श्रीमद्भा० ११।२।३६; १०।२।३७; १।८।२५; १०।१०।३८।

तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥ ३२ ॥*
आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥ ३३ ॥*
न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥ ३४ ॥*
कुर्वन्ति शान्तिं विबुधाः प्रहृष्टाः
क्षेमं प्रकुर्वन्ति पितामहाद्याः।
स्वस्ति प्रयच्छन्ति मुनीन्द्रमुख्या
गोविन्दभक्तिं वहतां नराणाम् ॥ ३५ ॥†
शुभा ग्रहा भूतपिशाचयुक्ता
ब्रह्मादयो देवगणाः प्रसन्नाः।
लक्ष्मीः स्थिरा तिष्ठति मन्दिरे च
गोविन्दभक्तिं वहतां नराणाम् ॥ ३६ ॥†
गङ्गागयानैमिषपुष्कराणि
काशी प्रयागः कुरुजाङ्गलानि।
तिष्ठन्ति देहे कृतभक्तिपूर्वं
गोविन्दभक्तिं वहतां नराणाम् ॥ ३७ ॥†

उन्हें थोथे तुष (भूषी) कूटनेवालोंके समान केवल क्लेश ही बाकी रहता है, और कुछ नहीं ॥ ३२ ॥ भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि आत्माराम और असङ्ग मुनिजन भी उनमें अहैतुकी भक्ति करते हैं ॥ ३३ ॥ हे उद्धव! जैसा मैं अपनी निष्कपट भक्तिसे प्राप्त होता हूँ, वैसा न योगसे, न सांख्यसे, न धर्मसे, न स्वाध्यायसे, न तपसे और न त्यागसे ही मिलता हूँ ॥ ३४ ॥ गोविन्दकी भक्ति करनेवाले मनुष्यको देवता भी हर्षित होकर शान्ति देते हैं, ब्रह्मा आदि रक्षा करते हैं, बड़े-बड़े मुनिगण कल्याण प्रदान करते हैं ॥ ३५ ॥ गोविन्दकी भक्ति धारण करनेवाले मनुष्यपर भूत, पिशाच आदिके सहित सभी ग्रह शुभ रहते हैं, ब्रह्मा आदि देवगण प्रसन्न रहते हैं, उसके घरमें लक्ष्मी स्थिर रहती हैं ॥ ३६ ॥ गोविन्दकी भक्ति करनेवाले मनुष्यके शरीरमें गङ्गा, गया नैमिषारण्य, पुष्कर, काशी, प्रयाग और कुरुक्षेत्र भक्तिपूर्वक निवास करते हैं ॥ ३७ ॥

* श्रीमद्भा० १० । १४ । ४; १ । ७ । १०; ११ । १४ । २० । † पद्मपुराणे ।

सकलभुवनमध्ये निर्धनास्तेऽपि धन्या
निवसति हृदि येषां श्रीहरेर्भक्तिरेका।
हरिरपि निजलोकं सर्वथा तं विहाय
प्रविशति हृदि तेषां भक्तिसूत्रोपनद्धः॥ ३८॥*
भक्तिमेवाभिवाञ्छन्ति त्वद्भक्ताः सारवेदिनः।
अतस्त्वत्पादकमले भक्तिरेव सदास्तु मे॥ ३९॥†
नो मुक्त्यै स्पृहयामि नाथ विभवैः कार्यं न सांसारिकैः
किंत्वायोज्य करौ पुनः पुनरिदं त्वामीशमभ्यर्थये।
स्वप्ने जागरणे स्थितौ विचलने दुःखे सुखे मन्दिरे
कान्तारे निशि वासरे च सततं भक्तिर्ममास्तु त्वयि॥ ४०॥‡
नानाचित्रविचित्रवेषशरणा नानामतभ्रामका
नानातीर्थनिषेवका जपपरा मौने स्थिता नित्यशः।
सर्वे चोदरसेवकास्त्वभिमता वादे विवादे रता
ज्ञानान्मुक्तिरिदं वदन्ति मुनयो मुक्त्यापि सा दुर्लभा॥ ४१॥
वरमसिधारा तरुतलवासो वरमिह भिक्षा वरमुपवासः।
वरमपि घोरे नरके पतनं न च हरिभक्तेर्विमुखः सङ्गः॥ ४२॥

समस्त संसारमें परम निर्धन होकर भी वे धन्य हैं जिनके हृदयमें एक भगवद्भक्तिका वास है, क्योंकि भगवान् हरि भी उनके भक्तिसूत्रसे बँधकर अपने लोकको छोड़कर उनके हृदयमें प्रवेश करते हैं॥ ३८॥ आपके तत्त्ववेत्ता भक्तजन आपकी भक्ति ही चाहते हैं, अतः मेरी भी सदा आपके चरणोंमें भक्ति बनी रहे॥ ३९॥ हे नाथ! मुझे न तो मुक्तिकी इच्छा है और न सांसारिक वैभवसे ही कोई प्रयोजन है। हे ईश! मैं तो हाथ जोड़कर आपसे बारम्बार यही माँगता हूँ कि सोने, जागने, खड़ा होने, चलने, सुख, दुःख, घर, वन, रात्रि और दिनमें, सब समय आपमें ही मेरी भक्ति बनी रहे॥ ४०॥ नित्य ही अनेक तरहके वेष धारण करनेवाले, अनेक मतोंमें भ्रमण करनेवाले, नाना तीर्थोंकी सेवा करनेवाले, जपपरायण और मौनव्रती—ये सभी उदरपूर्तिके निमित्त वाद-विवादमें लगे हुए जान पड़ते हैं। मुनिजन तो ज्ञानसे ही मुक्ति बतलाते हैं, और भक्ति तो मुक्तिसे भी दुर्लभ है॥ ४१॥ तलवारकी धारके समान कठिन व्रत करना, वृक्षके तले पृथ्वीपर रहना, भिक्षा माँग लेना अथवा भूखा रह जाना अच्छा है तथा घोर नरकमें पड़ना भी अच्छा है; किंतु भगवद्भक्तिसे विमुख रहनेवाली संगति अच्छी नहीं है॥ ४२॥

* पद्म० पु० खं० ६। १९१। † अध्या० रा० १। २। २०-२१।
‡ वाग्भटस्य।

विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥ ४३॥*

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनम्।
वंशः को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥ ४४॥

भक्तस्य लक्षणं माहात्म्यं च

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥ ४५॥†

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥ ४६॥†

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।

भलीभाँति निश्चित की हुई बात मैं आपसे कहता हूँ, मेरे वचन अन्यथा नहीं हैं, जो मनुष्य भगवान्‌का भजन करते हैं, वे अत्यन्त दुस्तर संसारसागरको तर जाते हैं॥ ४३॥ व्याधमें क्या सदाचार था? ध्रुवकी अवस्था ही कितनी थी? गजराजमें ऐसी कौन विद्या थी? कुब्जामें ऐसा कहाँका सौन्दर्य था? सुदामाके पास क्या धन था? विदुरका कौन-सा उच्च कुल था? अथवा यादवपति उग्रसेनमें कहाँका पुरुषार्थ था? भगवान् तो भक्तिके प्रिय हैं, वे केवल भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं, गुणोंसे नहीं॥ ४४॥ जो समस्त प्राणियोंमें अपना भगवत्स्वरूप देखता है और सब प्राणियोंको अपने भगवत्स्वरूपमें देखता है, वही उत्तम भक्त है॥ ४५॥ त्रिभुवनकी सम्पत्तिके लोभसे भी जिसके स्मरणमें किञ्चित् बाधा नहीं पड़ती और अजितात्मा देवगणोंसे खोजे जानेवाले भगवच्चरणारविन्दोंसे जिसका चित्त आधे क्षणके लिये भी चञ्चल नहीं होता, वही भगवद्भक्तोंमें उत्तम है॥ ४६॥ जो भगवान् विवश होकर उच्चारण किये जानेपर भी प्रत्यक्ष ही पापसमूहको ध्वंस कर देते हैं, वे ही साक्षात्

* श्रीतुलसीदासस्य रामचरितमानसे।

† श्रीमद्भा० ११।२।४५, ५३।

प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥ ४७ ॥*
क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥ ४८ ॥*
न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः ॥ ४९ ॥*
न वै जनो जातु कथञ्चनाव्रजेन्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम्।
स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः ॥ ५० ॥*
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥ ५१ ॥*

जिसके हृदयको कभी नहीं छोड़ते, तथा जिसने अपने प्रेमरूपी डोरीसे उनके चरण-कमलोंको बाँध रखा है, वही भगवद्भक्तोंमें प्रधान कहा गया है॥ ४७॥ भक्तजन कभी भगवान् अच्युतका चिन्तन करके रोते हैं, कभी हँसते हैं, कभी प्रसन्न होते हैं, कभी अलौकिक अवस्थामें पहुँचकर भगवान्‌से बातें करते हैं, कभी नाचते, गाते और भगवच्चिन्तन करते हैं तथा कभी परमेश्वरको पानेसे विश्रान्त होकर मौन हो जाते हैं॥ ४८ ॥ जिन (भगवान्) की चरणरजसे प्रसन्न [भक्त] न स्वर्गकी, न साम्राज्यकी, न ब्रह्मपदकी, न पातालके आधिपत्यकी, न योगसिद्धिकी और न मोक्षकी ही इच्छा करते हैं॥ ४९ ॥ हे मित्र! मुकुन्दकी सेवा करनेवाला मनुष्य अन्य (सकामकर्मी) पुरुषोंकी तरह आवागमनको प्राप्त नहीं होता; मुकुन्द-चरणारविन्दोंके आभ्यन्तरिक रसको स्मरण करता हुआ यह (जीव) फिर उन्हें छोड़नेकी इच्छा नहीं करता, क्योंकि यह जीव रस (परमानन्दरस) का ग्रहण करनेवाला है॥ ५०॥ (जो) निरपेक्ष, निर्वैर समदर्शी और शान्त मुनिजन हैं, उनके पीछे-पीछे सदा ही मैं इसलिये फिरा करता हूँ कि (उनकी) चरणरजसे पवित्र हो जाऊँ॥ ५१॥

---

* श्रीमद्भा० ११ । २ । ५५; ११ । ३ । ३२; १० । १६ । ३७; १ । ५ । १९; ११ । १४ । १६ ।

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥ ५२ ॥*
अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥ ५३ ॥*
भवदुःखघरट्टेन पिष्यन्ते सर्वमानवाः ।
दुःखमुक्तः सदानन्दः कृष्णभक्तो हि केवलः ॥ ५४ ॥†
वासुदेवस्य ये भक्ताः शान्तास्तद्गतमानसाः ।
तेषां दासस्य दासोऽहं भवे जन्मनि जन्मनि ॥ ५५ ॥‡
ये मे भक्ता हि हे पार्थ न मे भक्तास्तु मे मताः ।
मद्भक्तस्य तु ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः ॥ ५६ ॥$
सदा मुक्तोऽपि बद्धोऽस्मि भक्तेषु स्नेहरज्जुभिः ।
अजितोऽपि जितोऽहं तैरवशोऽपि वशीकृतः ॥ ५७ ॥$
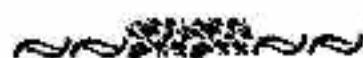
मेरे भक्त मेरी सेवाके अतिरिक्त तो सालोक्य, सायुज्य, सामीप्य, सारूप्य अथवा कैवल्य किसी प्रकारकी मुक्ति भी दिये जानेपर ग्रहण नहीं करते ॥ ५२ ॥ [सुदर्शनचक्रसे व्याकुल हो शरणागत दुर्वासा ऋषिसे विष्णुभगवान् कहते हैं—] 'हे द्विज! मैं पराधीनके समान भक्तोंके वशमें हूँ। मुझ भक्तवत्सलका चित्त मेरे साधुभक्तोंने बाँध रखा है'॥ ५३ ॥ संसारके दुःखरूपी चक्कीमें समस्त जीव पीसे जा रहे हैं, केवल नित्यानन्दस्वरूप एक कृष्णभक्त ही इस दुःखसे बचे हुए हैं ॥ ५४ ॥ जो वासुदेवमें दत्तचित्त हुए उनके शान्त भक्त हैं, जन्म-जन्म मैं उनके दासोंका दास होऊँ ॥ ५५ ॥ हे अर्जुन! जो केवल मेरे ही भक्त हैं वे मेरे वास्तविक भक्त नहीं। मेरे उत्तम भक्त तो वे ही हैं जो मेरे भक्तोंके भक्त हैं ॥ ५६ ॥ सदा मुक्त हुआ भी मैं भक्तोंमें (उनकी) प्रेमरूपी डोरीसे बँधा हुआ हूँ, अजित हुआ भी उनके द्वारा जीता जा चुका हूँ और अवश हुआ भी उनके वशमें हूँ ॥ ५७ ॥

---

* श्रीमद्भा० ३ । २९ । १३; ९ । ४ । ६३ ।

† श्रीताराकुमारस्य । ‡ पाण्डवगीतायाम् २१ ।

$ आदिपुराणे ।

प्रेमसूक्तिः

त्रिधाप्येकं सदागम्यं गम्यमेकप्रभेदने।
प्रेम प्रेमी प्रेमपात्रं त्रितयं प्रणतोऽस्म्यहम्॥ ५८॥*
अहो साहजिकं प्रेम दूरादपि विराजते।
चकोरनयनद्वन्द्वमाह्लादयति चन्द्रमाः॥ ५९॥
दर्शने स्पर्शने वापि श्रवणे भाषणेऽपि वा।
हृदयस्य द्रवत्वं यत्तत्प्रेम इति कथ्यते॥ ६०॥

प्रेमप्रादुर्भावक्रमः

आदौ श्रद्धा ततः सङ्गस्ततोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥ ६१॥†
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः॥ ६२॥†

रागात्मिका भक्तिः

इष्टे स्वारसिको रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता॥ ६३॥†

प्रेम, प्रेमी और प्रेमपात्र ये तीन होकर भी एक ही हैं, ये सदा ही पहचानमें नहीं आते, इन्हें एक रूप ही जानना चाहिये॥ ५८॥ अहो! जो स्वाभाविक प्रेम होता है, वह दूर होनेपर भी सुशोभित होता है, देखो, चन्द्रमा [कितनी दूरसे] चकोरके नेत्रोंको आह्लादित करता है॥ ५९॥ देखते या छूते, सुनते अथवा बोलते समय हृदयका पिघल जाना ही प्रेम कहा जाता है॥ ६०॥ पहले श्रद्धा होती है फिर सङ्ग, तदुपरान्त भजन, उससे अनर्थनिवृत्ति, फिर निष्ठा और उससे रुचि होती है। रुचिसे आसक्ति, उससे भाव और तदनन्तर प्रेमका प्रादुर्भाव होता है। साधकोंके प्रेमके उदय होनेमें यही क्रम है॥ ६१-६२॥ अपने प्रियमें स्वाभाविक प्रेम, पूर्ण आवेश और तन्मयतायुक्त जो भक्ति हो, उसे रागात्मिका भक्ति कहते हैं॥ ६३॥

---

* आदिपुराणे। † श्रीरूपगोस्वामिनः।

अनुभावा:

क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता।
आशाबद्धसमुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचि:॥ ६४॥*
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले।
इत्यादयोऽनुभावा: स्युर्जातभावाङ्कुरे जने॥ ६५॥*

सात्त्विका भावा:

ते स्वेदस्तम्भरोमाञ्चा: स्वरभेदोऽथ वेपथु:।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका: स्मृता:॥ ६६॥

सर्वेषां भावानुभावानां संकीर्णान्यूदाहरणानि

बद्धेनाञ्जलिना नतेन शिरसा गात्रै: सरोमोद्गमै:
कण्ठेन स्वरगद्गदेन नयनेनोद्गीर्णवाष्पाम्बुना।
नित्यं त्वच्चरणारविन्दयुगलध्यानामृतास्वादिना-
मस्माकं सरसीरुहाक्ष सततं सम्पद्यतां जीवनम्॥ ६७॥†
चन्द्रोदये चन्द्रकान्तो यथा सद्यो द्रवीभवेत्।
कृष्णभक्त्युदये प्रेम्णा तथैवात्मा द्रवीभवेत्॥ ६८॥‡

क्षमा, व्यर्थ समय न खोना, वैराग्य, मानशून्यता, आशाभरी उत्कण्ठा, निरन्तर नामसङ्कीर्तनमें प्रेम, प्रियतमके गुणोंकी चर्चामें आसक्ति तथा भगवान्के निवासस्थानोंमें प्रीति इत्यादि अनुभाव, जिस पुरुषमें भावका अंकुर स्फुटित होता है, उसमें होते हैं॥ ६४-६५॥ स्तब्ध हो जाना, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद (गद्गद हो जाना), कम्प, विवर्णता, अश्रुपात और सुध-बुध भूल जाना—ये आठ सात्त्विक भाव हैं॥ ६६॥ हे कमलनयन! हाथ जोड़कर सिर नवाकर पुलकित शरीरसे गद्गदकण्ठ हो नेत्रोंमें आँसू भरकर आपके युगलचरणोंके ध्यानामृतका आस्वाद लेते हुए हमारा जीवन व्यतीत हो॥ ६७॥ चन्द्रमाके उदय होनेपर जिस प्रकार चन्द्रकान्तमणि स्वयं द्रवीभूत हो जाती है, उसी प्रकार कृष्णभक्तिके उदय होनेपर चित्त प्रेमसे पिघल जाता है॥ ६८॥

---

* श्रीरूपगोस्वामिन:।

† श्रीमुकुन्दमालायाम्।

‡ श्रीताराकुमारस्य।

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥ ६९॥*
एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥ ७०॥*
यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धस-
त्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम्।
मुहुः श्वसन्वक्ति हरे जगत्पते
नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः ॥ ७१॥*
पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशान् विशन्तु प्रभो
धातस्त्वां शिरसा प्रणम्य कुरु मामित्यद्य याचे पुनः।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयालये
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलम्॥ ७२॥†

जिसमें हरिनामके उच्चारणमात्रसे कोई विकार नहीं होता वह हृदय नहीं पत्थर है। जब विकार होता है तो नेत्रोंमें जल और शरीरमें रोमाञ्च हो आता है॥ ६९॥ ऐसा व्रत रखनेवाला अपने प्यारेके नामसङ्कीर्तनसे प्रेमवश द्रुतचित्त होकर अलौकिक अवस्थामें पहुँचकर पागलकी भाँति कभी जोरोंसे हँसता है, कभी रोता है, कभी गुनगुनाता है, कभी गाता है और कभी नाचता है॥ ७०॥ जिस समय ग्रहग्रस्त (प्रेतपीड़ित) के सामान कभी हँसे, कभी रोये, कभी ध्यान करे, कभी प्रणाम करे और बार-बार दीर्घ निःश्वास लेता हुआ निःसंकोच होकर आत्मबुद्धिसे 'हे हरे! हे जगत्पते! हे नारायण!' कहे [तब भक्तिका उद्रेक हुआ जानो]॥ ७१॥ हे प्रभो! मेरा शरीर पञ्चत्वको प्राप्त हो जाय, पाँचों भूत अपने-अपने अंशोंमें मिल जायँ, पर हे विधातः! सिरसे प्रणाम करके तुमसे बारम्बार यही प्रार्थना करता हूँ कि (मेरा अंश) जल प्यारे कृष्णके क्रीडा-सरोवरमें, तेज उनके दर्पणमें, आकाश उनके गृहाकाशमें, भूमि उनके मार्गमें और वायु उनके पंखेमें (मिल जाय)॥ ७२॥

---

* श्रीमद्भा० २।३।२४; ११।२।४०; ७।७।३५।

† अकालजलदस्य।

संगमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न सङ्गमस्तस्य।
सङ्गे सैव तथैकस्त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे॥ ७३॥
नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥ ७४॥*
इन्दुः क्व क्व च सागरः क्व च रविः पद्माकरः क्व स्थितः
क्वाभ्रं वा क्व मयूरपङ्क्तिरमला क्वालिः क्व वा मालती।
मन्दाध्वक्रमराजहंसनिचयः क्वासौ क्व वा मानसं
यो यस्याभिमतः स तस्य निकटे दूरेऽपि वा वल्लभः॥ ७५॥

साधुसूक्तिः

चित्ताह्लादि व्यसनविमुखं शोकतापापनोदि
यशोत्पादि श्रवणसुखदं न्यायमार्गानुयायि।
तथ्यं पथ्यं व्यपगतमदं सार्थकं मुक्तवाद
यो निर्दोषं रचयति वचस्तं बुधाः सन्तमाहुः॥ ७६॥†

संगम और विरह इन दोनोंमें संगमकी अपेक्षा विरह अच्छा है, क्योंकि संगममें तो अकेला वही (प्रिय ही) रह जाता है और विरहमें सम्पूर्ण जगत् ही तद्रूप हो जाता है॥ ७३॥ आपका नामस्मरण करते हुए मेरे नेत्र अश्रुधारासे, मुख गद्गद वाणीसे और शरीर पुलकावलिसे कब पूर्ण हो जायगा?॥ ७४॥ कहाँ तो चन्द्रमा है और कहाँ समुद्र? कहाँ सूर्य है और कहाँ कमलवनकी स्थिति? कहाँ बादल हैं और कहाँ मयूरोंकी विमल पंक्ति? कहाँ भौंरे रहते हैं और कहाँ मालती? कहाँ मन्द-मन्दगामी राजहंसोंके झुंड हैं और कहाँ मानसरोवर? [इन सबमें इतना अन्तर रहते हुए भी परस्पर कितनी प्रीति है? सच है] जो जिसको चाहता है, वह उसके पास रहे या दूर, प्रियतम ही है॥ ७५॥

जो पुरुष चित्तको प्रसन्न करनेवाला, व्यसनसे विमुक्त, शोक और तापको शान्त करनेवाला, पूज्यभाव बढ़ानेवाला, कर्णसुखद, न्यायानुकूल, सत्य, हितकर, मानरहित, अर्थगर्भित, विवादरहित और निर्दोष वचन बोलता है, उसे ही बुधजन संत कहते हैं॥ ७६॥

---

* शिक्षाष्टकात्। †अमितगतेः।

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥ ७७॥*
शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनानहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥ ७८॥†
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥ ७९॥‡
सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।
निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः॥ ८०॥‡
तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥ ८१॥‡
धर्मे तत्परता मुखे मधुरता दाने समुत्साहिता
मित्रेऽवञ्चकता गुरौ विनयिता चित्तेऽतिगम्भीरता।
आचारे शुचिता गुणे रसिकता शास्त्रेऽतिविज्ञानिता
रूपे सुन्दरता हरौ भजनिता सत्स्वेव संदृश्यते॥ ८२॥$

जिसका चित्त इस अपार चिदानन्दसिन्धु परब्रह्ममें लीन हो गया उसका कुल पवित्र हो गया, माता कृतार्थ हो गयी और पृथ्वी उससे पुण्यवती हो गयी॥ ७७॥ इस भयंकर संसार-सागरसे स्वयं तरे हुए शान्त और महान् संतजन निःस्वार्थ बुद्धिसे दूसरे लोगोंको भी तारते हुए [इस संसारमें] वसन्तके समान लोकहित करते हुए निवास करते हैं॥ ७८॥ साधुजन मेरे हृदय हैं और मैं साधुओंका हृदय हूँ; वे मेरे सिवा कुछ भी नहीं जानते और मैं भी उनके सिवा और कुछ तनिक भी नहीं जानता॥ ७९॥ संतजन किसी प्रकारकी इच्छा नहीं करते, वे मुझमें ही चित्त लगाये रहते हैं तथा अति शान्त, समदर्शी, ममताशून्य, अहंकारहीन, निर्द्वन्द्व एवं सञ्चय न करनेवाले होते हैं॥ ८०॥ जो साधुजन तितिक्षु, करुणामय, समस्त प्राणियोंके हितैषी, शत्रुहीन और शान्तस्वभाव होते हैं वे साधुओंमें भूषणरूप हैं॥ ८१॥ धर्ममें तत्परता, वाणीमें मधुरता, दानमें उत्साह, मित्रोंसे निष्कपटता, गुरुजनोंके प्रति नम्रता, चित्तमें गम्भीरता, आचारमें पवित्रता, गुणग्रहणमें रसिकता, शास्त्रमें विद्वत्ता, रूपमें सुन्दरता और हरिस्मरणमें लगन—ये सब गुण सत्पुरुषोंमें ही देखे जाते हैं॥ ८२॥

* स्कन्द० माहेश्वर० कौमार० ५५। १४०। † विवेकचूडामणौ ३९।
‡ श्रीमद्भा० ९। ४। ६८; ११। २६। २७; ३। २५। २१। $ चाणक्यनीतेः।

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥ ८३॥*

ज्ञानिसूक्तिः

ध्यानजले ज्ञानह्रदे सर्वपापभयापहे।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम्॥ ८४॥†

क्वचिन्मूढो विद्वान् क्वचिदपि महाराजविभवः
क्वचिद्भ्रान्तः सौम्यः क्वचिदजगराचारकलितः।
क्वचित्पात्रीभूतः क्वचिदवमतः क्वाप्यविदित-
श्चरत्येवं प्राज्ञः सततपरमानन्दसुखितः॥ ८५॥‡

चिन्ताशून्यमदैन्यभैक्ष्यमशनं पानं सरिद्वारिषु
स्वातन्त्र्येण निरङ्कुशा स्थितिरभीर्निद्रा श्मशाने वने।

विपत्तिमें धीरज, सम्पत्तिमें क्षमा, सभामें वाक्चातुरी, युद्धमें पराक्रम, यशमें प्रेम और शास्त्रोंमें लगन—ये सद्गुण महात्माओंमें स्वाभाविक होते हैं॥ ८३॥

अपने मनरूपी तीर्थमें ज्ञानरूपी सरोवरके ध्यानरूपी सर्वपापहारी जलमें जो स्नान करता है वही परमगतिको प्राप्त होता है॥ ८४॥ ज्ञानी कहीं मूढ़के समान दिखायी देता है, कहीं राजा-महाराजाओंके ठाट-बाटसे युक्त दीख पड़ता है तथा कहीं भ्रान्त-सा, कहीं सौम्यमूर्ति और कहीं अजगरवृत्तिसे एक ही स्थानपर पड़ा रहनेवाला देखा जाता है। वह कहीं सम्मानित, कहीं अपमानित और कहीं अज्ञातरूपसे रहता है। इस प्रकार निरन्तर परमानन्दमें मग्न हुआ वह विचरता रहता है॥ ८५॥ ज्ञानियोंके लिये चिन्ता और दीनतासे रहित भिक्षान्न ही भोजन होता है, नदीका जल ही पीनेके लिये होता है, स्वतन्त्रापूर्वक शासनरहित स्थिति होती है, श्मशान अथवा वनमें निर्भय निद्रा होती है,

---

* भर्तृहरेर्नीतिशतकात्।

† महाभारते शान्तिपर्वणि।

‡ विवेकचूडामणौ ५४३।

वस्त्रं क्षालनशोषणादिरहितं दिग्वास्तु शय्या मही
संचारो निगमान्तवीथिषु विदांक्रीडा परे ब्रह्मणि॥ ८६॥
तनुं त्यजतु काश्यां वा श्वपचस्य गृहेऽथवा।
ज्ञानसम्प्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशयः॥ ८७॥*
यस्य कस्य च वर्णस्य ज्ञानं देहे प्रतिष्ठितम्।
तस्य दासस्य दासोऽहं भवे जन्मनि जन्मनि॥ ८८॥
स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिलैर्दत्ता च सर्वावनि-
र्यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च सम्पूजिताः।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात्॥ ८९॥†

गुरुसूक्तिः

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।

धोने-सुखानेसे रहित दिशाएँ ही वस्त्र होती हैं, पृथ्वी ही शय्या होती है, वेदान्तवीथियोंमें ही वे विचरण करते हैं; इस प्रकार विद्वानोंकी परब्रह्ममें ही क्रीड़ा होती है॥ ८६॥ जिसकी कामना दूर हो गयी है वह चाहे काशीमें शरीर त्यागे या चाण्डालके घरमें, वह तो ज्ञानप्राप्तिके समयसे ही मुक्त हो जाता है॥ ८७॥ जिस-किसी भी वर्णके शरीरमें ज्ञानका उदय हुआ हो, मैं जन्म-जन्म उसीके दासोंका दास होऊँ॥ ८८॥ ब्रह्मविचारमें जिसका चित्त एक क्षणके लिये भी स्थिर हो जाय, उसने समस्त तीर्थोंके जलमें स्नान कर लिया, सम्पूर्ण पृथ्वीका दान दे दिया, सहस्रों यज्ञ कर लिये, समस्त देवताओंका पूजन कर लिया तथा अपने पितरोंको संसारसागरसे पार कर दिया और स्वयं तो वह त्रिलोकीका ही पूजनीय हो गया॥ ८९॥

जो ब्रह्मानन्दस्वरूप, परम सुखदाता, केवल ज्ञानमूर्ति, द्वन्द्वोंसे पृथक्, आकाशके समान निर्लेप, तत्त्वमसि आदि महावाक्यका लक्ष्यार्थभूत, एक,

---

* तत्त्वबोधात्।

† गोरक्षशतकात्।

एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्‌गुरुं तन्नमामि ॥ ९० ॥*

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ९१ ॥†

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ९२ ॥†

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ९३ ॥†

अखण्डानन्दबोधाय शिष्यसन्तापहारिणे।
सच्चिदानन्दरूपाय तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ९४ ॥†

दशमोल्लास

विविधसूक्तयः

हरिभक्तिः

हरिरेव जगज्जगदेव हरि-
र्हरितो जगतो नहि भिन्नतनुः।

नित्य, निर्मल, कूटस्थ, समस्त बुद्धियोंके साक्षी और भावोंसे अतीत हैं उन त्रिगुणसे रहित सद्‌गुरुको मैं प्रणाम करता हूँ॥ ९०॥ अज्ञानरूपी तिमिररोग (रतौंधी) से अंधे हुए मनुष्यकी आँखोंको जिन्होंने ज्ञानरूपी अञ्जनकी शलाकासे खोल दिया है, उन गुरुदेवको नमस्कार है॥ ९१॥ समस्त चराचररूप ब्रह्माण्डको जिस परमेश्वरने व्याप्त कर रखा है, उनके पदका जिन्होंने साक्षात्कार कराया है उन गुरुदेवको नमस्कार है॥ ९२॥ गुरु ही ब्रह्मा, गुरु ही विष्णु और गुरु ही भगवान् महेश्वर हैं तथा गुरु ही साक्षात् परब्रह्म हैं, उन गुरुदेवको नमस्कार है॥ ९३॥ अखण्डानन्दमय बोधस्वरूप, शिष्योंके सन्तापहारी और सच्चिदानन्दरूप गुरुदेवको नमस्कार है॥ ९४॥

हरि ही जगत् हैं, जगत् ही हरि हैं, हरि और जगत्में किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं

* शुकरहस्ये। † गुरुगीतायाम्।

इति यस्य मतिः परमार्थगतिः
स नरो भवसागरमुत्तरति॥ १॥*
हे जिह्वे रससारज्ञे सर्वदा मधुरप्रिये।
नारायणाख्यपीयूषं पिब जिह्वे निरन्तरम्॥ २॥†
भोजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः।
योऽसौ विश्वम्भरो देवः स भक्तान् किमुपेक्षते॥ ३॥†
शरीरं च नवच्छिद्रं व्याधिग्रस्तं कलेवरम्।
औषधं जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः॥ ४॥†
लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः॥ ५॥†

शिवमहिमा

त्रयी साङ्ख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥ ६॥‡

है। जिसकी ऐसी मति है, उसीकी परमार्थमें गति है, वह पुरुष संसार-सागरको तर जाता है॥ १॥ सर्वदा मधुर रसको चाहनेवाली हे मधुरप्रिये जिह्वे! तू निरन्तर नारायण नामक अमृतका पान कर॥ २॥ वैष्णवजन भोजनवस्त्रकी चिन्ता व्यर्थ ही करते हैं, जो भगवान् सारे संसारका पेट भरनेवाले हैं, क्या वे अपने भक्तोंकी उपेक्षा कर सकते हैं?॥ ३॥ यह शरीर नौ छिद्रोंसे युक्त और व्याधिग्रस्त है, इसके लिये गङ्गाजल ही औषध और भगवान् नारायण ही वैद्य हैं॥ ४॥ जिनके हृदयमें नीलकमलके समान श्यामसुन्दर भगवान् जनार्दन विराजमान हैं, उनका ही लाभ है, उनकी ही जय है, भला उनकी पराजय किससे हो सकती है?॥ ५॥ हे शिव! वैदिक मत, सांख्य, योग, पाशुपत और वैष्णव इत्यादि परस्पर भिन्न मार्गोंमें 'यह बड़ा है, यह हितकारी है' इस प्रकार रुचि-वैचित्र्यसे अनेक प्रकारके सीधे या टेढ़े पंथको अपनानेवाले मनुष्योंके लिये आप (ईश्वर) ही एकमात्र प्राप्तव्य स्थान हैं, जैसे जलमात्रके लिये समुद्र है॥ ६॥

* मधुसूदनस्य।

† पाण्डवगीतायाम् ६८, ७६, ७५, ४६। ‡ पुष्पदन्ताचार्यस्य।

सतां महत्त्वम्

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः
स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
धाराधरो वर्षति नात्महेतोः
परोपकाराय सतां विभूतयः॥७॥

सत्यं माता पिता ज्ञानं धर्मो भ्राता दया सखा।
शान्तिः पत्नी क्षमा पुत्रः षडेते मम बान्धवाः॥८॥*

विरला जानन्ति गुणान् विरलाः कुर्वन्ति निर्धने स्नेहम्।
विरलाः परकार्यरताः परदुःखेनापि दुःखिता विरलाः॥९॥

क्षमा

क्षमा खड्गः करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति॥१०॥

साधुसङ्गः

मार्गे मार्गे जायते साधुसङ्गः
सङ्गे सङ्गे श्रूयते कृष्णकीर्तिः।
कीर्तौ कीर्तौ नस्तदाकारवृत्ति-
र्वृत्तौ वृत्तौ सच्चिदानन्दभासः॥११॥

नदियाँ स्वयं जल नहीं पीतीं, वृक्ष स्वयं फल नहीं खाते तथा मेघ अपने लिये नहीं बरसता। सज्जनोंकी सम्पत्ति तो परोपकारके लिये ही होती है॥७॥ सत्य मेरी माता है, ज्ञान पिता है, धर्म भाई है, दया मित्र है, शान्ति स्त्री है और क्षमा पुत्र है, ये छः ही मेरे बान्धव हैं॥८॥ विरले ही गुणोंको समझते हैं, विरले ही निर्धनोंसे प्रेम करते हैं, दूसरोंके कार्यसाधनमें तत्पर और परदुःखसे दुःखित होनेवाले भी विरले ही होते हैं॥९॥ जिसके हाथमें क्षमारूपी तलवार है, उसका दुर्जन क्या कर सकते हैं? तृणरहित स्थानमें गिरी हुई अग्नि स्वयं ही शान्त हो जाती है॥१०॥ मार्गमें सज्जनोंका सङ्ग प्राप्त है, प्रत्येक सत्सङ्गमें कृष्णका कीर्तन सुना जाता है, प्रत्येक कीर्तनमें हमारी तदाकार वृत्ति होती है और प्रत्येक वृत्तिमें सच्चिदानन्दका अनुभव होता है॥११॥

* चाणक्यनीतेः।

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते-
स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता
विमन्यवः सुहृदः साधवो ये॥ १२॥*

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः
क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा ह्यात्मा कृशानौ हुतः।
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद् दृष्ट्वा तु मित्रापदं
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी॥ १३॥†

योगी

कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत्।
जायते योगवान् यत्र दत्तमक्षयतां व्रजेत्॥ १४॥‡

भेदाभेदौ सपदि गलितौ पुण्यपापे विशीर्णे
मायामोहौ क्षयमुपगतौ नष्टसन्देहवृत्तेः।
शब्दातीतं त्रिगुणरहितं प्राप्य तत्त्वावबोधं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः॥ १५॥$

महान् पुरुषोंकी सेवाको मुक्तिका द्वार कहा है और स्त्रीलम्पटोंका सङ्ग ही नरकका द्वार है तथा महान् पुरुष वे ही हैं जो समानचित्त, शान्तात्मा, क्रोधहीन, हितकारी और साधु हों॥ १२॥ दूधने अपने पास आये हुए जलको पहले अपने सभी गुण दे डाले, जलने भी दूधको जलते देखकर अग्निमें अपनेको भस्म कर दिया, मित्रपर ऐसी आपत्ति देखकर आगमें गिरनेके लिये दूध उछलने लगा, फिर जब उसमें जल आ मिला तब शान्त हो गया, सज्जनोंकी मित्रता ऐसी ही होती है॥ १३॥ जहाँ कोई योगी उत्पन्न हो जाता है उसके माता-पिता कृतार्थ हो जाते हैं, वह देश और कुल धन्य हो जाता है और उस (योगी) को दिया हुआ अक्षय हो जाता है॥ १४॥ शब्दातीत त्रिगुणरहित तत्त्वबोधको प्राप्तकर जिसकी सन्देहवृत्ति नष्ट हो गयी है उसके भेद और अभेद तत्काल गलित हो जाते हैं, पुण्य और पापोंका नाश हो जाता है तथा माया और मोह क्षीण हो जाते हैं, त्रिगुणातीतमार्गमें विचरनेवाले उस योगीके लिये क्या विधि और क्या निषेध है?॥ १५॥

---

* श्रीमद्भा० ५।५।२। † भर्तृहरेः। ‡ श्रीब्रह्मवैवर्तपुराणे। $ शुकाष्टकात्।

कस्मात्कोऽहं किमपि च भवान् कोऽयमत्र प्रपञ्चः
स्वं स्वं वेद्यं गगनसदृशं पूर्णतत्त्वप्रकाशम्।
आनन्दाख्यं समरसवने बाह्यमन्त्रैर्विहीने
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः॥ १६॥*
धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरं गेहिनी
सत्यं सूनुरयं दया च भगिनी भ्राता मनःसंयमः।
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजन-
मेते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्माद्भयं योगिनः॥ १७॥

गीतागौरवम्

यदि जयति मुकुन्दस्मेरवक्त्रारविन्द-
स्त्रवदमलमरन्दानन्दनिष्यन्दजन्मा ।
अविरतमिह गीता ज्ञानपीयूषसिन्धुः
कृतमथ भवतापैरत्र मज्जन्तु सन्तः॥ १८॥†
दिशति मतिमपापां मोहविध्वंसदक्षां
हरति निखिलतापाञ्छान्तिमाविष्करोति।

मैं कहाँसे आया हूँ? कौन हूँ? और तुम कौन हो? तथा यह प्रपञ्च क्या है? इस प्रकार सबको अपने आकाशसदृश, पूर्ण तत्त्वमय आनन्दस्वरूपको पृथक्-पृथक् जानना चाहिये। इस बाह्य मन्त्रणाओंसे शून्य समरस वनमें त्रिगुणातीत मार्गपर विचरनेवाले महापुरुषके लिये क्या विधि और क्या निषेध है?॥ १६॥ धैर्य जिसका पिता है, क्षमा माता है, नित्य शान्ति स्त्री है, सत्य पुत्र है, दया भगिनी है तथा मनःसंयम भ्राता है, भूमितल ही जिसकी सुकोमल सेज है, दिशाएँ ही वस्त्र हैं (और) ज्ञानामृत ही जिसका भोजन है, जिसके ये सब कुटुम्बी हैं, कहो मित्र! उस योगीको किससे भय हो सकता है?॥ १७॥

यदि भगवान् कृष्णके मन्द मुसकानयुक्त वदनारविन्दसे निकले हुए मकरन्दरूप आनन्दद्रवसे प्रकट हुई ज्ञानामृततरङ्गिणी गीता इस जगत्में निरन्तर प्रवाहित हो रही है तो संसारके ताप क्या कर सकते हैं? संतजन अब इसीमें डुबकी लगाया करें॥ १८॥ यह गीता मोहका नाश करनेमें समर्थ पावन बुद्धि देती है, आधिदैविक आदि सभी तापोंको हर लेती है, [हृदयमें] शान्तिभावका आधान करती है और

* शुकाष्टकात्। † पाण्डेयरामनारायणदत्तशास्त्रिणः।

नयति परममोक्षं सच्चिदानन्दभावं
किमिव न फलमेषा कल्पवल्लीव सूते॥ १९॥*
यदि दधति न गीतामात्मसंजीवनाय
विषयविषधरालीदष्टनष्टात्मबोधाः ।
अमृतकलशपूर्णामन्नपूर्णामुपेक्ष्या-
शनविरहकृशानां हा हतं भागधेयम्॥ २०॥*
इह जगति दयेयं देवदेवस्य गीता
निजशरणमुपेतुं प्राणिनः प्राजुहोति।
न चिरयत सदैवानाद्यविद्याञ्चलेन
ननु पिहितदृशोऽन्धा बन्धनोन्मोचनाय॥ २१॥*
भ्रान्ता भवे कति कति प्रतिलभ्य योनीः
श्रान्ता जनाः किल मुमुक्षत चेच्छृणुध्वम्।
गीतामिमां भगवतीं भजतापरास्ति
संसारसिन्धुमसमं न तरीस्तरीतुम्॥ २२॥*

सच्चिदानन्दरूप परम मोक्षतक पहुँचा देती है, भला, यह कल्पलताके समान कौन-सा फल नहीं देती?॥ १९॥ विषयरूपी विषधरोंसे डँसे जानेके कारण जिनकी सुध-बुध नष्ट हो चुकी है, वे मनुष्य यदि आत्मसंजीवनके लिये गीतारूप औषधका सेवन नहीं करते तो अमृतके घड़े लेकर सामने आयी हुई अन्नपूर्णा देवीकी उपेक्षा करके अन्नके बिना सूखनेवालोंकी तरह उन बेचारोंका भाग्य ही मारा गया है॥ २०॥ इस जगत्में भगवान्की दयारूपिणी यह गीता ['सर्वधर्मान् परित्यज्य' आदि वचनोंके द्वारा] अपनी शरणमें आनेके लिये प्राणियोंको पुकार रही है। सदा ही अनादि अविद्याके आवरणसे ढकी हुई आँखोंवाले ऐ अन्ध (अज्ञानी) पुरुषो! इस समय अपना बन्धन-मोचन करनेके निमित्त देर न लगाओ॥ २१॥ ऐ लोगो! यदि संसारमें कई-कई योनियोंको पाकर भटकते हुए थक गये हो और अब मुक्त होना चाहते हो तो सुनो, इस भगवती गीताको ही भजो, विषम संसार-सागरको पार करनेके लिये गीताके सिवा दूसरी नौका नहीं है॥ २२॥

---

* पाण्डेयरामनारायणदत्तशास्त्रिणः।

महापुरुषमहिमा

श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना
नैको मुनिर्यस्य वचःप्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥ २३॥*

विजेतव्या लङ्का चरणतरणीयो जलनिधि-
र्विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः।
पदातिर्मर्त्योऽसौ सकलमवधीद्राक्षसकुलं
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे॥ २४॥†

घटो जन्मस्थानं मृगपरिजनो भूर्जवसनं
वने वासः कन्दादिकमशनमेवं विधगुणः।
अगस्त्यः पाथोधिं यदकृतकराम्भोजकुहरे
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे॥ २५॥†

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥ २६॥‡

श्रुति और स्मृतियाँ अनेक तरहकी हैं, एक मुनि नहीं है जिसका वचन प्रमाण माना जाय; धर्मका तत्त्व गूढ़ है, इसलिये महात्माओंने जिसका अनुसरण किया है वही सत्य मार्ग है॥ २३॥ लंका-जैसी दुर्गम पुरीपर विजय प्राप्त करनी थी, समुद्रको पैदल पार करना था, रावण-जैसा शत्रु था, युद्धस्थलमें सहायता करनेवाले बन्दर थे, तो भी स्वयं एक पैदल पुरुष रामचन्द्रने राक्षसकुलका संहार कर दिया। सच है, महापुरुषोंकी क्रियासिद्धि उनके तेजपर ही निर्भर रहती है, साधनोंपर नहीं॥ २४॥ घड़ा ही जिसका जन्मस्थान है, हरिण ही परिजन हैं, वल्कल ही वस्त्र है, वनमें निवास है और कन्दमूल आदि ही भोजन है, ऐसे गुणवाले अगस्त्यजीने यदि समुद्रको अपने कर कमलोंके सम्पुटमें रख लिया तो यह सत्य है कि महात्माओंकी कार्यसिद्धि उनकी शक्तिमें रहती है, साधनोंमें नहीं॥ २५॥ लोकोत्तर महापुरुषोंके चित्तको कौन जान सकता है, वह वज्रसे कठोर और कुसुमसे भी कोमल होता है॥ २६॥

---

* महाभारते वनपर्वणि ३। १२। ३१५।

† विलोचनस्य। ‡ भवभूतेः।

क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनं
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम्॥ २७॥*

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥ २८॥*

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम्।
भक्तिश्चक्रिणि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले
एते यत्र वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः॥ २९॥*

घृष्टं घृष्टं पुनरपि पुनश्चन्दनं चारुगन्धं
छिन्नं छिन्नं पुनरपि पुनः स्वादु चैवेक्षुकाण्डम्।
दग्धं दग्धं पुनरपि पुनः काञ्चनं कान्तवर्णं
प्राणान्तेऽपि प्रकृतिविकृतिर्जायते नोत्तमानाम्॥ ३०॥

मनस्वीजन अपने कार्यकी सिद्धिके लिये सुख-दुःखका विचार नहीं करते। वे कभी तो भूमिपर और कभी सेजपर सोते हैं, कभी शाकाहार और कभी उत्तम भोजन करते हैं, कभी गुदड़ी और कभी अमूल्य वस्त्रोंको धारण करते हैं॥ २७॥ नीतिज्ञजन निन्दा करें अथवा स्तुति, लक्ष्मी रहे अथवा जहाँ चाहे चली जाय तथा मृत्यु आज ही हो जाय अथवा युगान्तरमें, धीर पुरुष न्यायपथसे एक पग भी पीछे नहीं हटते॥ २८॥ सत्सङ्गकी अभिलाषा, परगुणश्रवणमें प्रेम, गुरुजनोंके निकट नम्रता, विद्याका व्यसन, केवल अपनी ही स्त्रीमें प्रेम, लोकनिन्दासे भय, भगवान् विष्णुमें भक्ति, मनःसंयमकी शक्ति और कुसङ्गका त्याग—ये निर्मल गुण जिनमें हों उन नररत्नोंके लिये नमस्कार है॥ २९॥ चन्दनको जितना घिसो और अधिक सुगन्ध देता है, गन्नेको जितना ही चूसते जाओ और अधिक मीठा होता है तथा सुवर्णको जितना-जितना तपाया जाय उतना ही अधिक चमकता है, उत्तम पुरुषोंका प्राणान्ततक क्यों न हो जाय उनके स्वभावमें कोई अन्तर नहीं पड़ता॥ ३०॥

---

* भर्तृहरेर्नीतिशतकात्।

सज्जनदुर्जनविवेकः

विद्या विवादाय धनं मदाय
शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतद्
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥ ३१॥*

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥ ३२॥†

अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता।
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम्॥ ३३॥

अन्योक्तयः

मूलं भुजङ्गैः शिखरं प्लवङ्गैः
शाखा विहङ्गैः कुसुमानि भृङ्गैः।
आसेव्यते दुष्टजनैः समस्तै-
र्न चन्दनं मुञ्चति शीतलत्वम्॥ ३४॥

दुष्टकी विद्या विवादके लिये, धन मदके लिये और शक्ति दूसरोंको कष्ट देनेके लिये होते हैं, और सज्जनके इससे विपरीत ही विद्या ज्ञान, धन दान और शक्ति रक्षा करनेके लिये होते हैं॥ ३१॥ एक तो सत्पुरुष ऐसे होते हैं कि स्वार्थको त्यागकर भी दूसरोंके कार्य साधते हैं, दूसरे साधारण जन ऐसे होते हैं जो स्वार्थको न बिगाड़ते हुए दूसरोंके कार्यमें तत्पर रहते हैं और जो स्वार्थके लिये परहितका नाश करते हैं वे मनुष्यरूपी राक्षस हैं, पर जो बिना स्वार्थके भी दूसरोंके हितका नाश करते हैं, वे कौन हैं यह समझमें नहीं आता॥ ३२॥ असज्जनता, निष्ठुरता, क्रूरता और विहित कर्म न करना—ये बातें लोकमें संकीर्ण जातिके मनुष्यको प्रकट कर देती हैं॥ ३३॥ चन्दनके मूलमें सर्प रहते हैं, शिखरपर बन्दर रहते हैं, शाखाओंपर पक्षी तथा पुष्पोंपर भ्रमर रहते हैं, इस प्रकार वह समस्त दुष्ट प्राणियोंसे सेवित होता है, परंतु फिर भी अपनी शीतलताको नहीं छोड़ता॥ ३४॥

* भवभूतेर्गुणरत्नात्। † भर्तृहरेः।

वासः काञ्चनपिञ्जरे नृपवरैर्नित्यं तनोर्मार्जनं
भक्ष्यं स्वादुरसालदाडिमफलं पेयं सुधाभं पयः।
वाच्यं संसदि रामनाम सततं धीरस्य कीरस्य भो
हा हा हन्त तथापि जन्मविटपिक्रोडं मनो धावति॥ ३५॥
अगाधजलसञ्चारी विकारी नैष रोहितः।
गण्डूषजलमात्रेण शफरी फर्फरायते॥ ३६॥

विवेकः

सोपानभूतं मोक्षस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम्।
यस्तारयति नात्मानं तस्मात्पापतरोऽत्र कः॥ ३७॥
विलक्षणं यथा ध्वान्तं लीयते भानुतेजसि।
तथैव सकलं दृश्यं ब्रह्मणि प्रविलीयते॥ ३८॥
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥ ३९॥*

सोनेके पिंजड़ेमें रहना, राजाके हाथोंसे शरीरका नहलाया जाना, स्वादिष्ट आम, अनार आदि भोजन करना, अमृत-सा जल पीना और सभाओंमें निरन्तर राम-नामको रटना, इतना होते हुए भी अहो! धीर शुकका मन इनसे उदास होकर, अपने जन्मस्थान वृक्षके कोटरकी ओर ही दौड़ता है॥ ३५॥ अगाध जलमें रहनेवाला रोहित नामक महामत्स्य कभी विकारको प्राप्त नहीं होता; किन्तु चुल्लूभर पानीमें रहनेवाली मछली हर समय फुदकती रहती है [इसी प्रकार महापुरुष महान् विभूति पाकर भी उद्धत नहीं होते; किन्तु छोटे आदमी थोड़े-से धनसे ही मर्यादासे बाहर हो जाते हैं]॥ ३६॥ जो पुरुष मुक्तिके सोपान (सीढ़ी) रूप अति दुर्लभ मनुष्य-शरीर पाकर भी अपनेको नहीं तारता उससे बड़ा पापी संसारमें कौन है?॥ ३७॥ सूर्यका प्रकाश होनेपर जिस प्रकार अन्धकार विपरीतधर्मी होता हुआ भी उसमें लीन हो जाता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण दृश्य भी ब्रह्ममें लीन हो जाता है॥ ३८॥ संसारका विषयानन्द और परलोकका महान् दिव्यानन्द, ये तृष्णाक्षयके आनन्दके सोलहवें भाग भी नहीं हो सकते॥ ३९॥

---

* महाभारते शान्तिपर्वणि १७७। ५१।

नीतिज्ञा निर्यातज्ञा वेदज्ञा अपि भवन्ति शास्त्रज्ञाः।
ब्रह्मज्ञा अपि लभ्याः स्वाज्ञानज्ञानिनो विरलाः॥ ४०॥*
त्यक्तव्यो ममकारस्त्यक्तुं यदि शक्यते नासौ।
कर्तव्यो ममकारः किन्तु स सर्वत्र कर्तव्यः॥ ४१॥*
आत्मानं यदि निन्दन्ति स्वात्मानं स्वयमेव हि।
शरीरं यदि निन्दन्ति सहायास्ते जना मम॥ ४२ ॥
मन्निन्दया यदि जनः परितोषमेति
नन्वप्रयत्नसुलभोऽयमनुग्रहो मे।
श्रेयोऽर्थिनो हि पुरुषाः परतुष्टिहेतो-
र्दुःखार्जितान्यपि धनानि परित्यजन्ति॥ ४३ ॥†
सततसुलभदैन्ये निःसुखे जीवलोके
यदि मम परिवादात् प्रीतिमाप्नोति कश्चित्।
परिवदतु यथेष्टं मत्समक्षं तिरो वा
जगति हि बहुदुःखे दुर्लभः प्रीतियोगः॥ ४४॥‡
धिक्कुलं धिक्कुटुम्बं च धिग्गृहं धिक् सुतं च धिक्।
आत्मानं धिक् शरीरं च श्रीगोपालपराङ्मुखम्॥ ४५ ॥

संसारमें नीति, भविष्य, वेद, शास्त्र और ब्रह्म सबके जाननेवाले मिल सकते हैं; परंतु अपने अज्ञानके जाननेवाले मनुष्य विरले ही हैं॥ ४०॥ या तो ममत्व बिलकुल छोड़ दे और यदि न छोड़ सके, (ममत्व करना ही हो) तो सर्वत्र करे॥ ४१॥ यदि कोई पुरुष मेरे आत्माकी निन्दा करते हैं तो स्वयं अपने आत्माकी ही निन्दा करते हैं, और यदि इस निन्दनीय शरीरकी निन्दा करते हैं तब तो मेरे सहायक ही हैं॥ ४२॥ मेरी निन्दासे यदि किसीको सन्तोष होता है तो बिना प्रयत्नके ही मेरी उनपर कृपा हुई, क्योंकि श्रेयके इच्छुक पुरुष तो दूसरोंके सन्तोषके लिये अपने कष्टोपार्जित धनका भी परित्याग करते हैं॥ ४३॥ इस दुःखमय जीवलोकमें, जिसमें सदा दीनता ही सुलभ है, यदि किसीको मेरी निन्दासे सन्तोष होता है तो वह चाहे मेरे सामने, चाहे पीछे मेरी यथेष्ट निन्दा करे; क्योंकि इस दुःखमय संसारमें प्रसन्नताकी प्राप्ति बड़ी दुर्लभ है॥ ४४॥ जो गोपालसे विमुख है उस कुलको, कुटुम्बको, घरको, पुत्रको, आत्माको और शरीरको धिक्कार है! धिक्कार है!!॥ ४५॥

---

* अप्पय्यदीक्षितस्य। †शान्तिशतकात्। ‡ज्ञानाङ्कुशात्।

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गमीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥ ४६ ॥
द्रव्याणि भूमौ पशवश्च गोष्ठे नारी गृहद्वारि जनाः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे धर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥ ४७ ॥
नवच्छिद्रसमाकीर्णे शरीरे पवनस्थितिः।
प्रयाणस्य किमाश्चर्यं चित्रं तत्र स्थितेर्महत्॥ ४८ ॥
चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः
सद्बान्धवाःप्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः।
गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः
सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति॥ ४९ ॥*
अनन्तपारं बहु वेदशास्त्रं
स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः।
सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु
हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्॥ ५० ॥

मृग, हाथी, पतंग, मत्स्य और भ्रमर—ये पाँच जीव पाँचों (विषयों) मेंसे एक-एकसे मारे जाते हैं, फिर जो प्रमादी अकेले ही अपनी पाँचों इन्द्रियोंसे पाँचों विषयोंका सेवन करता है वह क्यों न मारा जायगा?॥ ४६ ॥ मनुष्यकी मृत्युके पश्चात् उसका धन पृथ्वीमें गड़ा रह जाता है, पशु गोष्ठमें बँधे रह जाते हैं, स्त्री घरके द्वारपर छूट जाती है; और परिजन श्मशानतक तथा शरीर चितातक साथ देता है, परलोकके मार्गमें केवल धर्मको साथ लेकर जीव अकेला ही जाता है॥ ४७ ॥ नव छिद्रोंसे युक्त इस शरीरमें वायु रहता है, उसके निकल जानेमें क्या आश्चर्य है? विचित्रता तो उसके ठहरनेमें ही है॥ ४८ ॥ अति मनोमोहिनी स्त्रियाँ हैं, मित्र भी अनुकूल हैं, बन्धुजन भी बड़े सुयोग्य हैं, सेवक भी प्रेमपूर्ण बोली बोलनेवाले हैं, कितने ही हाथी चिग्घाड़ रहे हैं और तेज घोड़े हिनहिना रहे हैं किंतु आँख मूँदते ही कोई अपना नहीं रहता॥ ४९ ॥ वेद-शास्त्र बहुत और अपार हैं, आयु बहुत थोड़ी है और विघ्न अनेक हैं। अतः हंस जिस प्रकार जलमेंसे दूधको निकाल लेता है उसी प्रकार व्यर्थ विस्तारको त्यागकर सारका ग्रहण करना चाहिये॥ ५० ॥

* विक्रमादित्यस्य।

पुत्रा इति दारा इति पोष्यान्मूर्खो जनान्ब्रूते।
अन्धे तमसि निमज्जन्नात्मा पोष्य इति नावैति॥५१॥*

पाठकाः पठितारश्च ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः॥५२॥

सुरा मत्स्याः पशोर्मांसं द्विजातीनां बलिस्तथा।
धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद्वेदेषु कथ्यते॥५३॥†

काषायग्रहणं कपालभरणं केशावलीलुञ्चनं
पाखण्डव्रतभस्मचीवरजटाधारित्वमुन्मत्तता।
नग्नत्वं निगमागमादिकविता‌गोष्ठी सभामण्डले
सर्वं चोदरपूरणार्थनटनं न श्रेयसां कारणम्॥५४॥

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
देवो न स स्यान्न पतिश्च स स्या-
न्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्॥५५॥

मूर्खजन पुत्र, स्त्री आदिको रक्षणीय कहते रहते हैं; पर अन्धकारमें डूबी अपनी आत्माके उद्धारका विचार भी नहीं करते॥ ५१॥ पढ़ने-पढ़ानेवाले और दूसरे जो शास्त्रचिन्तनमें लीन हैं वे सभी व्यसनी और नासमझ हैं, पर जो क्रियावान् (आचरण करनेवाला) है, वही वास्तविक पण्डित है॥ ५२॥ मद्य, मत्स्य, पशुका मांस तथा द्विजातियोंद्वारा बलि—इन चीजोंको धूर्तोंने ही यज्ञमें प्रवृत्त किया है, इसका वेदमें विधान नहीं है॥ ५३॥ गेरुए वस्त्र पहिनना, कपाल धारण करना, केशोंका नोचना, पाखण्डव्रत, भस्म, कौपीन, जटा आदि धारण करना, उन्मत्त हो जाना, नंगे रहना और सभाओंमें वेद, शास्त्र कविता आदिकी गोष्ठी करना—ये सब केवल उदरपूर्तिके लिये नृत्य हैं, वास्तविक कल्याणके कारण नहीं हैं॥ ५४॥ जो समीप आयी हुई मृत्युसे नहीं छुड़ाता [अर्थात् बोधदानके द्वारा अमरपदकी प्राप्ति नहीं कराता] वह न गुरु है, न स्वजन है, न पिता है, न माता है, न देव है और न पति है॥ ५५॥

---

* अप्पय्यदीक्षितस्य।

† महाभारते शान्तिपर्वणि २६५। ९।

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्मकः।
अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ॥ ५६ ॥*

संकीर्णानि

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
सत्यंचेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्।
सौजन्यं यदि किं गुणैस्सुमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ॥ ५७ ॥†

आपद्गतं हससि किं द्रविणान्धमूढ
लक्ष्मीः स्थिरा न भवतीति किमत्र चित्रम्।
एतान्न पश्यसि घटाञ्जलयन्त्रचक्रे
रिक्ता भवन्ति भरिता भरिताश्च रिक्ताः ॥ ५८ ॥

मन्ये लक्ष्मि त्वया सार्धं समुद्राद्धूलिरुत्थिता।
पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति श्रीमन्तो धूलिलोचनाः ॥ ५९ ॥

हेयं दुःखमनागतं ध्येयं ब्रह्म सनातनम्।
आदेयं कायिकं सुखं विधेयं जनसेवनम् ॥ ६० ॥

हे सत्यविक्रम! जो धर्म दूसरे धर्मका बाधक हो वह धर्म नहीं कुधर्म है! धर्म तो वही है जो किसी दूसरे धर्मका विरोधी न हो ॥ ५६ ॥ लोभ है तो अन्य दोषोंकी क्या आवश्यकता है? पिशुनता है तो दूसरे पापोंसे क्या लेना है? सत्य है तो तपस्याकी क्या जरूरत? मन पवित्र है तो तीर्थोंकी क्या आवश्यकता? सुशीलता है तो अन्य गुणोंसे क्या लाभ? सुन्दर यश है तो गहनोंसे क्या? सुविद्या है तो धनसे क्या! और अपयश है तो मृत्युसे क्या करना है? ॥ ५७ ॥ हे धनान्ध मूढ! किसी आपत्तिग्रस्तको देखकर क्यों हँसता है? इसमें आश्चर्य ही क्या है, लक्ष्मी कहीं स्थिर थोड़े ही रहती है। अरे! इस घटीयन्त्र (रहट) के घटोंको नहीं देखता? जो खाली हैं वे भरते जाते हैं, जो भरे हैं वे खाली होते जाते हैं ॥ ५८ ॥ हे लक्ष्मि! मुझे ऐसा मालूम होता है कि समुद्रसे निकलते समय तुम्हारे साथ धूलि भी आ गयी थी, जिसके आँखोंमें पड़ जानेसे धनवान् पुरुष देखते हुए भी नहीं देखते ॥ ५९ ॥ दुःखके आनेसे पूर्व ही उसे रोकनेका उपाय करे, निरन्तर सनातन ब्रह्मका चिन्तन करे, शारीरिक सुखको स्वीकार करे और जनताकी सेवा करे ॥ ६० ॥

---

* महाभारते वनपर्वणि १३१ । ११ । † भर्तृहरेर्नीतिशतकात्।

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता मनोहारिणी
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषिति रतिः सेवारताः सेवकाः।
आतिथ्यं सुरपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे
साधोः सङ्ग उपासना च सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः॥ ६१॥
तद्वक्ता सदसि ब्रवीतु वचनं यच्छृण्वतां चेतसः
प्रोल्लासं रसपूरणं श्रवणयोरक्ष्णोर्विकासश्रियम्।
क्षुन्निद्राश्रमदुःखकालगतिहृत्कार्यान्तरापस्मृतिं
प्रोत्कण्ठामनिशं श्रुतौ वितनुते शोकं विरागादपि॥ ६२॥

वह गृहस्थाश्रम धन्य है, जिसमें आनन्दमय घर, विद्वान् पुत्र, सुन्दरी स्त्री, सच्चे मित्र, सात्त्विक धन, स्वपत्नीमें प्रीति, सेवापरायण सेवक, अतिथि-सत्कार, नित्य देवपूजा, मधुर भोजन, सत्संगति और उपासना—ये सर्वदा प्राप्त होते रहते हैं॥ ६१॥ सभामें वक्ता इस प्रकार वचन बोले जिससे श्रोताओंके चित्तमें आनन्द बढ़े, कानोंमें रस भर जाय; आँखें खिलकर सुशोभित हो जायँ; भूख, नींद, थकावट, दुःख, समय, चेष्टा तथा अन्य कार्योंकी याद न रहे, सुननेकी रात-दिन उत्कण्ठा बनी रहे और न सुननेसे दुःख मालूम हो॥ ६२॥

एकादशोल्लास

सदुक्तिसंग्रहः

१ अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति।
२ अतथ्यस्तथ्यो वा हरति महिमानं जनरवः।
३ अतिपरिचयादवज्ञा सन्ततगमनादनादरो भवति।
४ अति सर्वत्र वर्जयेत्।
५ अधिकस्याधिकं फलम्।
६ अनन्तपुण्यस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा।

(कुमारसम्भवे)

७ अन्तःसारविहीनानामुपदेशो न विद्यते।
८ अपि धन्वन्तरिर्वैद्यः किं करोति गतायुषि।
९ अल्पविद्यो महागर्वी।
१० आपत्सु धीरान् प्रज्ञा यस्य धीरः स एव ही।

(कथासरित्सागरे)

११ आपदि स्फुरति पुरुषान् स्वयमायान्ति सम्पदः।

(कथासरित्सागरे)

१२ उदिते परमानन्दे नाहं न त्वं न वै जगत्।
१३ उत्सवप्रियाः खलु मनुष्याः।
१४ उत्साहवन्तो हि नरा न लोके सीदन्ति कर्मस्वतिदुष्करेषु।
१५ एको हि दोषो गुणसन्निपाते।
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।

(कुमारसम्भवे)

१६ कण्ठे सुधा वसति वै खलु सज्जनानाम्।
१७ कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव।
१८ कलौ भक्तिः कलौ भक्तिर्भक्त्या कृष्णः पुरःस्थितः।

१९ कालस्य कुटिला गतिः।
२० किञ्चित्कालोपभोग्यानि यौवनानि धनानि च।
(कथासरित्सागरे)
२१ किमज्ञेयं हि धीमताम्।
२२ कुतः सत्यं च कामिनाम्।
२३ कुतो विद्यार्थिनः सुखम्।
२४ कुपुत्रमासाद्य कुतो जलाञ्जलिः।
२५ कृशे कस्यास्ति सौहृदम्।
२६ गतं न शोचामि कृतं न मन्ये।
२७ गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।
२८ चौरे गते वा किमु सावधान्यम्।
२९ छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति।
३० जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ। (रघुवंशे)
३१ जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः।
३२ जितक्रोधेन सर्वं हि जगदेतद्विजीयते। (कथासरित्सागरे)
३३ ज्ञानस्याभरणं क्षमा।
३४ तत्कर्म हरितोषं यत्सा विद्या तन्मतिर्यया। (भागवते)
३५ त्रासं विना नैव गुणाः श्रयन्ति।
३६ दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी।
३७ दुग्धेन दग्धवदनस्तक्रं फूत्कृत्य पामरः पिबति।
३८ दुर्लभः स गुरुर्लोके शिष्यचिन्तापहारकः।
३९ देवो दुर्बलघातकः।
४० दैवी विचित्रा गतिः।
४१ दोषोऽपि गुणतां याति प्रभोर्भवति चेत्कृपा।
४२ दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते।
४३ धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। (मनुस्मृतौ)
४४ न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते। (कुमारसम्भवे)
४५ न भवंति महतां हि क्वापि मोघः प्रसादः। (हरिविलासे)

४६ न हि सिंहो गजास्कन्दी भयाद्गिरिगुहाशयः। (रघुवंशे)
४७ न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।
४८ न ह्यमूला प्रसिद्धिः।
४९ न यथापूर्वमुपैति यद्गतम्। (उमापतिशर्मद्विवेदस्य कविपतेः)
५० निपातनीया हि सतामसाधवः।
५१ निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते।
५२ निःसारस्य पदार्थस्य प्रायेणाडम्बरो महान्।
५३ नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण। (कालिदासस्य)
५४ नैकत्र सर्वो गुणसन्निपातः।
५५ पञ्चभिर्मिलितैः किं यज्जगतीह न साध्यते। (नैषधीयचरिते)
५६ पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते। (रघुवंशे)
५७ परोपकारार्थमिदं शरीरम्।
५८ परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
५९ परोपदेशवेलायां शिष्टाः सर्वे भवन्ति वै।
६० पश्यन्तु लोकाः कलिकौतुकानि।
६१ पापप्रभावान्नरकं प्रयाति।
६२ पिण्डे पिण्डे मतिर्भिन्ना।
६३ पुष्पं पर्युषितं त्यजन्ति मधुपाः।
६४ पूज्यं वाक्यं समृद्धस्य।
६५ पूर्वपुण्यतया विद्या।
६६ प्रत्यासन्नविपत्तिमूढमनसां प्रायो मतिः क्षीयते।
६७ प्रभुप्रसादो हि मुदे न कस्य। (कुमारसम्भवे)
६८ प्रायेण साधुवृत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः।
६९ प्रायः सज्जनसङ्गतौ च लभते दैवानुरूपं फलम्।
७० प्रायः समापन्नविपत्तिकाले धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति।
७१ प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति। (भर्तृहरेः)
७२ प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रापदां भाजनम्।
७३ प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता। (कुमारसम्भवे)

७४ प्रियः को नाम योषिताम्। (भागवते)

७५ फलं भाग्यानुसारतः।

७६ बली बलं वेत्ति न वेत्ति निर्बलः।

७७ बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा।

७८ बहुरत्ना वसुंधरा।

७९ बह्वाश्चर्या हि मेदिनी। (कथासरित्सागरे)

८० बुभुक्षितः किन्न करोति पापं क्षीणा जना निष्करुणा भवन्ति।

८१ बुद्धिः कर्मानुसारिणी।

८२ ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम्। (कथासरित्सागरे)

८३ भर्तृमार्गानुसरणं स्त्रीणां च परमं व्रतम्। (कथासरित्सागरे)

८४ भवति महत्सु न निष्फलः प्रयासः। (शिशुपालवधे)

८५ भवितव्यता बलवती। (अभिज्ञानशाकुन्तले)

८६ भक्त्या हि तुष्यन्ति महानुभावाः।

८७ भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि। (रघुवंशे)

८८ भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि। (अभिज्ञानशाकुन्तले)

८९ भिन्नरुचिर्हि लोकः। (रघुवंशे)

९० भूयोऽपि सिक्तः पयसा घृतेन न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति।

९१ मतिरेव बलाद्गरीयसी।

९२ मदमूढबुद्धिषु विवेकिता कुतः। (शिशुपालवधे)

९३ मनोरथानामगतिर्न विद्यते। (कुमारसम्भवे)

९४ मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम्। (रघुवंशे)

९५ महान् महत्येव करोति विक्रमम्।

९६ मातर्लक्ष्मि तव प्रसादवशतो दोषा अपि स्युर्गुणाः।

९७ मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता। (नैषधीयचरिते)

९८ मुक्त्वा बलिभुजं काकी कोकिले रमते कथम्। (कथासरित्सागरे)

९९ मुखरतावसरे हि विराजते। (किरातार्जुनीये)

१०० मूर्खैः प्रसङ्गः कथमस्य शर्मणे।
१०१ मौनं सर्वार्थसाधकम्।
१०२ यथौषधं स्वादु हितं च दुर्लभम्।
१०३ यदन्नं भक्षयेन्नित्यं जायते तादृशी प्रजा।
१०४ यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः।
१०५ यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नो करणीयं नाचरणीयम्।
१०६ यदि कार्यविपत्तिः स्यान्मुखरस्तत्र हन्यते।
१०७ युक्तियुक्तं प्रगृह्णीयाद् बालादपि विचक्षणः।
१०८ येनेष्टं तेन गम्यताम्।
१०९ रिक्तपाणिर्न पश्येत्तु राजानं देवतां गुरुम्।
११० विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।

(कुमारसम्भवे)

१११ विधिरहो बलवानिति मे मतिः।
११२ विधेर्विचित्राणि विचेष्टितानि।
११३ विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।
११४ विवेकधाराशतधौतमन्तः सतां न कामः कलुषीकरोति।

(नैषधीयचरिते)

११५ शत्रोरपि गुणा वाच्याः।
११६ शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। (कुमारसम्भवे)
११७ शुभस्य शीघ्रम्।
११८ श्रीकृष्णस्य कृपालवो यदि भवेत् कः कं निहन्तुं क्षमः।
११९ सतां हि चेतःशुचितात्मसाक्षिका। (नैषधीयचरिते)
१२० सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।

(अभिज्ञानशाकुन्तले)

१२१ समानशीलव्यसनेषु सख्यम्।
१२२ समीरणो नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य।

(कुमारसम्भवे)

१२३ सर्वं सावधि नावधिः कुलभुवां प्रेम्णः परं केवलम्।

१२४ सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते। (भर्तृहरेः)
१२५ सत्यं शिवं सुन्दरम्।
१२६ सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति। (भवभूतेः)
१२७ सदोभूषा सूक्तिः।
१२८ सा विद्या या विमुक्तये।
१२९ साधुः सीदति दुर्जन प्रभवति प्राप्ते कलौ दुर्युगे।
१३० सानुकूले जगन्नाथे विप्रियः सुप्रियो भवेत्।
१३१ सारं गृह्णन्ति पण्डिताः।
१३२ सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं हि गुणार्जनम्। (किरातार्जुनीये)
१३३ संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति।
१३४ सङ्कटे हि परीक्ष्यन्ते प्राज्ञाः शूराश्चसङ्गरे। (कथासरित्सागरे)
१३५ संसारो नास्ति ज्ञानिनः।
१३६ स्तोत्रं कस्य न तुष्टये। (कुमारसम्भवे)
१३७ स्त्रियाश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः।
१३८ स्वदेशजातस्य नरस्य नूनं गुणाधिकस्यापि भवेदवज्ञा।
१३९ स्वयमेव हि वातोऽग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते। (रघुवंशे)
१४० स्वस्थे चित्ते बुद्धयः सम्भवन्ति।
१४१ स्वसुखं नास्ति साध्वीनां तासां भर्तृसुखं सुखम्। (कथासरित्सागरे)
१४२ स्वस्थः को वा न पण्डितः।
१४३ हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः। (किरातार्जुनीये)
१४४ ह्रदे गभीरे हृदि चावगाढे शंसन्ति कार्यावसरं हि सन्तः। (नैषधीयचरिते)

उपसंहार

एवं श्रीश्रीरमण भवता यत्समुत्तेजितोऽहं
चाञ्चल्ये वा सकलविषये सारनिर्द्धारणे वा।
आत्मप्रज्ञाविभवसदृशैस्तत्र यत्नैर्ममैतैः
साकं भक्तैरगतिसुगते तुष्टिमेहि त्वमेव॥ १॥

(विष्णुपुरीस्वामिनः)

हे श्रीरमाकान्त! हे अशरणशरण! मैं बालचापल्य अथवा सर्वविषयोंका सार सञ्चय करनेमें जो आपके द्वारा उत्तेजित किया गया हूँ उसमें अपने बुद्धिवैभवके अनुसार किये हुए मेरे प्रयत्नों [के फलस्वरूप इस सूक्तिसुधाकर] से अपने भक्तजनोंके सहित आप ही सन्तुष्ट हों।

एष स्यामहमल्पबुद्धिविभवोऽप्येकोऽपि कोऽपि ध्रुवं
मध्ये भक्तजनस्य यत्कृतिरियं न स्यादवज्ञास्पदम्।
किं विद्याः शरघाः किमुज्ज्वलकुलाः किं पौरुषं के गुणा-
स्तत्किं सुन्दरमादरेण रसिकैर्नापीयते तन्मधु॥ २॥

(विष्णुपुरीस्वामिनः)

हो सकता है कि मैं एक अल्पबुद्धि और तुच्छ व्यक्ति ही होऊँ तो भी आशा है कि प्रेमी भक्तजनोंमें मेरी इस कृतिकी उपेक्षा न होगी; क्योंकि (तुच्छ) मधुमक्षिकामें कहाँकी विद्या है? कौन-सा उत्तम कुल है? क्या पौरुष है? और कौन-से गुण हैं? तो भी उसके द्वारा संगृहीत स्वाभाविक मधुर मधुका, क्या रसिकजन आदरपूर्वक आस्वादन नहीं करते?

श्रीहरिः

सूक्तिसुधाकरे संगृहीतश्लोकानामकारादिक्रमेणानुक्रमः

श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः

श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः

श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः

श्लोका:	पृष्ठाङ्का: